# विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

chakladar

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

वर्ष १६
अंक २

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

## हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल – मई – जून

★ १९७८ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी चिन्मयचैतन्य

वार्षिक ५)

वर्ष १६

अंक २

एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क – १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र.)

फोन । २४५८९

# अनुक्रमणिका

—: ० :—



---

कवर चित्र परिचय – **स्वामी विवेकानन्द**

---

मुद्रणस्थल : **नरकेसरी प्रेस**, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १६] अप्रैल–मई–जून ★ १९७८ ★ [अंक २

## योग का पहला द्वार

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता ॥

--वाणी को रोकना, द्रव्य का संग्रह न करना, लौकिक पदार्थों की आशा छोड़ना, कामनाओं का त्याग करना और नित्य एकान्त में रहना--ये सब योग का पहला द्वार हैं।

—विवेकचूड़ामणि, ३६८

# अग्नि-मंत्र

( स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित )

द्वारा ई० टी० स्टर्डी,
हाई व्यू, केवरशम, रीडिंग, इंग्लैण्ड
१८९५

प्रिय शशि,

तुम्हारा पत्र, चुनी बाबू का पत्र और सान्याल का पत्र पहले ही मिले। आज राखाल का पत्र मिला। राखाल को गुर्दे की बीमारी (Gravel) से तकलीफ उठानी पड़ी, यह जानकर मुझे दुःख हुआ। शायद पाचन-क्रिया की गड़बड़ी से ऐसा हुआ होगा। ... गोपाल का ऋण-परिशोध हो चुका है। अब उसे अपना मूड़ मुड़ा लेने को कहना। मरने पर भी सांसारिक बुद्धि दूर नहीं होती।...मठ में आकर वह काम-काज करता रहे। संसार में बहुत अधिक समय तक लिप्त रहने से दुर्बुद्धि का होना स्वाभाविक है। यदि वह संन्यास मार्ग को अपनाना न चाहे, तो उससे जगह खाली कर देने को कहना। दो नावों में पैर रखनेवाले व्यक्ति को मैं नहीं चाहता हूँ—ऐसे मनुष्य जो आधे तो संन्यासी हैं और आधे गृहस्थ। लॉर्ड (Lord) रामकृष्ण परमहंस — हरमोहन की मनगढ़न्त बात है। लॉर्ड (Lord) से उसका तात्पर्य क्या है—English Lord अथवा Duke? राखाल से कहना कि लोग जो भी कुछ क्यों न कहें, उधर ध्यान देने की

कोई आवश्यकता नहीं है। वे लोग तो कीड़े-जैसे हैं, नितान्त नगण्य हैं। किसी प्रकार की वंचना की भावना तुम लोगों में नहीं रहनी चाहिए तथा कपटता की ओर तुम पैर न रखना। मैं अपने को कट्टरपन्थी पौराणिक अथवा निष्ठावान् ( छुआछूत माननेवाला ) हिन्दू कब मानता था ? I do not pose as one ( मैं अपने को इस प्रकार जाहिर तो नहीं करता हूँ। ) ... लोग क्या कहते हैं या नहीं कहते हैं, उस ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही क्या है ? वहाँ तो बारह वर्ष की लड़की के सन्तान होती है। जिनके आविर्भाव से देश पवित्र बन गया, उनके लिए एक कौड़ी का कार्य तो हुआ नहीं और फिर लम्बी-चौड़ी बातें हाँकते हैं। भाई, यह बिलकुल ही ध्यान देने योग्य बात नहीं है कि ऐसे लोग क्या कहते हैं ?... राम राम ! जिन लोगों का रहन-सहन, आहार-विहार, वेश-भूषा, खान-पान, इत्यादि सब कुछ गन्दे हैं और जिनकी केवल मात्र जबान ही सार है, ऐसे लोगों के कहने-सुनने से होता ही क्या है ? तुम अपना कार्य करते रहो। मनुष्य के मुँह की ओर क्यों ताकते हो, भगवान पर दृष्टि रखो। गीता, उपनिषदों के भाष्य आदि तो शब्दकोश की सहायता से शरत् इन लोगों को पढ़ा सकता है न ? अथवा केवल वैराग्य ही सार है ? वर्तमान समय में केवल वैराग्य से क्या कभी काम चल सकता है ? सबके लिए रामकृष्ण परमहंस बनना क्या सम्भव है ? सम्भवतः शरत् अब तक रवाना हो चुका

होगा। एक पंचदशी, एक गीता ( जितने अधिक भाष्य सहित प्राप्त हो सके ), काशी से प्रकाशित नारद तथा शाण्डिल्य सूत्र, ( सुरेशदत्त के छपे हुए ग्रन्थ में इतनी अशुद्धियां हैं कि ठीक ठीक अर्थबोध भी नहीं हो पाता), पंचदशी का यदि कोई अच्छा अनुवाद मिले, तो उसकी एक प्रति तथा कालीवर वेदान्तवागीश कृत शांकर भाष्य का अनुवाद एवं पाणिनि-सूत्र या काशिका-वृत्ति अथवा महाभाष्य का यदि कोई बंगला या अंग्रेजी अनुवाद (इलाहाबाद के श्रीश बाबू कृत) मिले, तो भेजना। अपने बंगालियों से मुझे वाचस्पत्य कोष की एक प्रति भेजने के लिए कहना, इससे बड़ी बड़ी बातें बघारनेवालों की एक परीक्षा हो जायगी। अंग्रेजों के देश में धर्म-कर्म की गति बहुत ही धीमी है। ये लोग या तो कट्टरपन्थी होते हैं अथवा नास्तिक। कट्टरपन्थी लोगों में भी धर्म नाम मात्र का है, patriotism (देश-प्रेम) ही हमारा धर्म है, बस इतना ही मात्र वे मानते हैं।

पुस्तकें अमेरिका के पते पर भेजना। मेरा अमेरिका का पता इस प्रकार है -- द्वारा कुमारी फिलिप्स, १९ पश्चिम ३८ वाँ रास्ता, न्यूयार्क, संयुक्त राज्य, अमेरिका। नवम्बर के अन्त तक मैं अमेरिका पहुँचूँगा, अतः पुस्तकें वहीं भेजना। यदि मेरे पत्र को देखते ही शरत् रवाना हो चुका हो, तब तो मुझसे उसकी भेंट हो सकती है, अन्यथा नहीं। Business is business (काम काम है)—यह बच्चों का खेल नहीं है। स्टर्डी

साहब उसे अपने घर पर लाकर रखेंगे तथा उसकी देख-भाल करेंगे। मैं तो अब की बार साधारणतया यहाँ की परिस्थिति जानने के लिए इंग्लैण्ड आया हूँ, अगली गर्मी में आकर कुछ अधिक हलचल मचाने का प्रयास करूँगा। तदनन्तर अगले जाड़े में भारत जाना है। उन लोगों के साथ निरन्तर पत्र-व्यवहार करते रहना, जो हममें दिल-चस्पी लेते हों, ताकि उनका interest (उत्सुकता) नष्ट न होने पाए। समग्र बंगाल में जगह जगह केन्द्र स्थापित करने का प्रयत्न करना। विशेष विवरण अगले पत्र में भेजूँगा। स्टर्डी साहब बहुत ही सज्जन तथा कट्टर वेदान्ती हैं, थोड़ी-बहुत संस्कृत भी समझ लेते हैं। बहुत कुछ परिश्रम करने पर तब कहीं इन देशों में थोड़ा-बहुत कार्य हो पाता है--बहुत ही कठिन काम है, खासकर जाड़े के दिनों में, जबकि प्रायः ही वर्षा होती रहती है। इसके अलावा अपनी गाँठ से खर्च कर यहाँ काम करना पड़ता है। अंग्रेज लोग भाषण सुनने के लिए या इस प्रकार के विषयों में एक पैसा भी खर्च नहीं करते। यदि वे भाषण सुनने के लिए उपस्थित हों, तो बहुत ही सौभाग्य समझना चाहिए। उनकी स्थिति भी हमारे देशवासियों की सी है। साथ ही यहाँ के लोग अभी मुझे जानते भी नहीं हैं। और फिर भगवान् आदि के नाम से तो वे भागने लगते हैं, उसका तात्पर्य वे यह निकालते हैं कि मैं भी सम्भवतः कोई दूसरा पादरी हूँ। तुम शान्तिपूर्वक बैठकर एक कार्य करना—ऋग्वेद से लगाकर साधारण पुराण तथा तन्त्रों में सृष्टि,

प्रलय, जाति, स्वर्ग, नरक, आत्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, मुक्ति, संसार (पुनर्जन्म) आदि का जो वर्णन है, उसे एकत्र करते रहना। बच्चों जैसे खेल से कोई काम नहीं होता, मुझे तो real scholarly work (पूरा पाण्डित्यपूर्ण काम) चाहिए। Material (उपादान) संग्रह करना ही मुख्य कार्य है। सबसे मेरी प्रीति कहना। इति।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

# श्रीरामकृष्ण के जीवन का एक दिन

आज फलहारिणी पूजा का दिन है। दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में बड़ा उत्सव होता है। अपार भक्तसमागम होता है और मन्दिर-प्रांगण भक्तों के उल्लास से उल्लसित हो उठता है। श्रीरामकृष्णदेव आज बड़ी मौज में हैं। बीच बीच में वे भावावेश में डूब जाते हैं और कभी कभी पाँच वर्ष के बालक के समान बड़े आनन्द से माता का नाम-स्मरण करते करते नाचने लगते हैं। श्रीरामकृष्ण के दर्शनों के लिए योगीन (स्वामी योगानन्द) भी आये हुए हैं। आज रात वे श्रीरामकृष्ण के पास ठहरेंगे। जगन्माता की पूजा समाप्त होते होते रात व्यतीत हो गयी और थोड़ासा विश्राम लेते लेते भोर हो गया।

आज प्रातःकाल आठ-नौ बज जाने पर भी श्रीरामकृष्ण के पास पूर्व प्रबन्ध के अनुसार देवी के प्रसाद की थालियाँ नहीं आयीं। उन्होंने कालीमन्दिर के पुजारी (अपने भतीजे रामलाल) को पुकारा और इसका कारण पूछा, पर उन्हें कुछ मालूम नहीं था। वे बोले, "सारा प्रसाद दफ्तर में खजांची बाबू के पास भेज दिया गया है और वे नित्य के समान प्रत्येक को भेज भी रहे हैं, आप ही के यहाँ अभी तक क्यों नहीं आया कौन जाने?" रामलाल का कथन सुनकर उन्हें और भी चिन्ता होने लगी। "दफ्तर से प्रसाद अभी तक क्यों नहीं आया" यही बात वे हर एक से पूछने लगे। और भी कुछ समय बीत गया, तो भी प्रसाद आने के कुछ चिह्न न दिखे।

तब स्वयं श्रीरामकृष्ण उठे और जूता पहनकर खजांची बाबू के पास गये और उससे बोले, "बाबूजी, (अपने कमरे की ओर इशारा करके) उस घर का नित्य का प्रसाद अभी तक आपने क्यों नहीं भिजवाया ? विस्मरण तो नहीं हो गया ? आज इतने दिनों से प्रसाद भेजने की प्रथा है और यदि अब विस्मरण होकर इस प्रकार बन्द हो जाय, तो बड़ा अन्याय होगा।" खजांची बाबू कुछ विस्मित होकर बोला, "एं ! अभी तक आपके पास प्रसाद नहीं आया ? सचमुच अन्याय की बात हुई। मैं अभी भेज देता हूँ।"

योगीन तब छोटे थे। उच्च सावर्ण चौधरी के कुल में जन्म लेने के कारण उन्हें बड़ा अभिमान था। पुजारी, खजांची, नौकर आदि लोगों को वे तुच्छ मानते थे। वे कुछ ही दिनों से श्रीरामकृष्ण के पास आने लगे थे, परन्तु इन लोगों से बोलने में उन्हें अपना अपमान मालूम होता था। अतः जब प्रसाद की थालियाँ नहीं आयीं और श्रीरामकृष्ण ने इसकी पूछताछ की, तब उन्होंने कह ही दिया कि "महाराज, न आयी तो न सही। उसमें कौनसी बड़ी बात है ? आप तो उसमें से कुछ छूते तक नहीं, तब इतनी पूछताछ किसलिए ?" थोड़े ही समय बाद जब श्रीरामकृष्ण खजांची के पास स्वयं पूछने गये, तब योगीन मन में कहने लगे, "आज ये ऐसे साधारण फल-मूल-मिष्टान्न आदि के लिए इतनी चिन्ता में जाने क्यों पड़ गये ? जिनके मन की शान्ति किसी भी अवसर में

विचलित नहीं होती, उन्होंने आज यह क्या मचाया है ?" पर बहुत विचार करने पर भी जब इसका कारण ध्यान में नहीं आया, तब उन्होंने यह सिद्धान्त निकाला कि "श्रीरामकृष्ण हों या और कोई हों, सभी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलते हैं यही मालूम होता है। इनका जन्म पुजारी ब्राह्मण के घर में हुआ है, तब उस पेशे का कुछ न कुछ असर तो इनमें आना ही चाहिए; नहीं तो बड़े बड़े संकट के समय की शान्त वृत्ति कहाँ और इस यत्किंचित् बात के लिए इतनी दौड़धूप कहाँ ? क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो जब वे स्वयं प्रसाद का एक टुकड़ा भी नहीं खाते, तब फिर उसके लिए इतनी खटपट क्यों करते फिर रहे हैं ? यह वंशानुगत संस्कार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?"

इस प्रकार योगीन मन में विचार कर रहे थे कि इतने में श्रीरामकृष्ण वहाँ आये और उनकी ओर देखकर बोले, "समझा नहीं ? साधु-सन्त, देवी-देवता की ठीक ठीक सेवा होती रहे इसी उद्देश्य से रानी रासमणि ने इतनी सम्पत्ति रख छोड़ी है। इस कमरे में जो प्रसाद आता है, वह सब भक्तगण ही खाते हैं। ईश्वर-दर्शन के लिए उत्सुक लोग ही इस प्रसाद को पाते हैं। इससे रानी की सम्पत्ति उचित कार्य में लगती है और उसका दान सार्थक होता है। पर देवालय के अन्य ब्राह्मण जो प्रसाद ले जाते हैं, उसका उचित उपयोग नहीं होता। उसे बेचकर वे पैसा बनाते हैं। किसी किसी ने तो वेश्या रख ली

है और उसे वह प्रसाद ले जाकर खिलाते हैं। यही रोजगार चलता है। इसलिए वैसा न होने पाये और रानी का दान अंशतः सार्थक हो, इसी उद्देश्य से मैं यह झगड़ा कर रहा हूँ।"

श्रीरामकृष्ण की हड़बड़ी का यह अर्थ सुन योगीन चकित हो गये और उन्हें अपने विचारों पर लज्जा हुई।

# श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

नलिनी दीदी को छुआछूत की भीषण सनक है। कब किस अपवित्र वस्तु का स्पर्श हो जाय इस भय से वे सदा सत्रस्त रहती हैं। कौन कब छू लेगा इसी चिन्ता में सदा डूबी रहती हैं। माँ में छुआछूत की यह सब भावना नहीं है। इसीलिए नलिनी दीदी दुःखपूर्वक कहती हैं, "बुआ तो जूठी पत्तल भी रौंदकर चली जाएँगी। और जिस दिन वे कहती हैं—'नलिनी, हाथ में थोड़ा गंगाजल ढाल तो,' उस दिन मैं समझ जाती हूँ कि बुआ के पैरों तले अवश्य ही कोई अत्यन्त अपवित्र वस्तु आ गयी है।" नलिनी दीदी की इस छुआछूत के कारण माँ को बहुत कुछ सहन करना पड़ता है। किसी किसी दिन इस सनक की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि घर के सभी लोग तंग हो उठते हैं। कोई कोई कटाक्षपूर्वक कहते हैं, "आज नलिनी दीदी का बुआ से कुछ विशेष ऐंठ लेने का इरादा है, इसीलिए यह सब ढोंग रच रखा है।" क्योंकि, जैसे भी हो, माँ उसे किसी प्रकार मनाएँगी ही।

ठण्ड की एक शाम को नलिनी दीदी ने बुआ के पास आकर रुँआसे स्वर में कहा कि वे भूल से विष्ठा का स्पर्श कर पड़ी हैं। अब इस ठण्ड में नहाना असम्भव है और नहाये बिना घर के भीतर प्रवेश नहीं कर सकतीं, इसलिए न तो भोजन ही कर सकती हैं और न सो ही सकती हैं। ठण्ड में बरामदे में बैठे बैठे ही रात काटनी होगी। माँ

ने बहुत समझाया कि गंगाजल का स्पर्श करने या हाथ-पैर धोकर कपड़े बदल लेने से ही काम चल जाएगा। पर नलिनी दीदी नहीं मानीं। दु:खी हो मन के अभिमान में अपने कमरे के सामने के बरामदे में बैठ गयीं, मानो माँ का ही सारा दोष हो। रात हो गयी, पर वे उठीं नहीं, उसी तरह बैठी आँसू बहाती रहीं। माँ ने बुलाया-समझाया, दूसरों ने भी समझाया, किन्तु किसी की बात उनके कानों में न पड़ी। ब्यालू के बाद सभी लोग सोने के लिए चले गये और जाते हुए नलिनी के प्रति खीझ प्रकट कर माँ से विनयपूर्वक कहते गये कि वे नलिनी के लिए और कष्ट न करें, आज उसे थोड़ी सीख देना अच्छा ही होगा। नलिनी दीदी का दु:ख और अभिमान क्रमश: बढ़ने ही लगा। उन्होंने रुक-रुककर ऊँचे स्वर में रोना और विलाप करना शुरू किया—"संसार में मुझे देखनेवाला कोई नहीं है। पति के घर में जगह न मिली, तो पिता के घर आयी। पिता ने दूसरा विवाह किया है। सौतेली माँ हैं। उनके साथ भला कहीं रहा जा सकता है ? बुआ हैं, स्नेह करती हैं, स्थान भी दिया है। दूसरे लोग ईर्ष्या करते हैं। यहाँ रहना भी कठिन हो रहा है। भगवान् भी इतना निर्दयी है ! लगता है दु:ख में ही मेरा जीवन कटेगा।" कुछ देर चुप रहती हैं और पुन: विलाप करना शुरू करती हैं।

सभी सो रहे हैं। सारा घर नि:स्तब्ध है। माँ उठीं और बड़े मधुर कण्ठ से पुकारने लगीं, "नलिनी ! आ बेटी ! बरामदे में सोये हुए क्यों कष्ट पा रही है ?

हाथ-पैर धो भोजन कर कमरे में सोना, चल !" कुछ लोग जिन्हें अभी तक नींद नहीं आयी थी, उनके कानों में भी यह कण्ठ-स्वर सुनायी पड़ा। माँ भी रोकर कहने लगीं, "अहा, नलिनी बच्ची है, समझती नहीं। इसीलिए गुस्सा करके कष्ट पाती है, और सभी लोग उस पर खीझते भी हैं।" माँ बार बार दुःख प्रकट कर रही हैं—"नलिनी की समझ कम है, इसीलिए गुस्सा करके कष्ट पाती है।"

माँ की एक सन्तान यह सुनकर सोच रही है—हम लोग जब दूसरे पर क्रोध करते हैं, तब यही सोचते हैं कि वह व्यक्ति जान-बूझकर हमें तंग कर रहा है। किन्तु माँ की दृष्टि क्या है ? वे सोचती हैं कि समझ कम है, भला-बुरा सोच नहीं पाती, उसका क्या दोष ? बुद्धिहीन अबोध बालक पर क्या क्रोध किया जाता है ? माँ ! तुम्हारे सामने तो हम सभी अबोध शिशु हैं। क्रोध होगा कैसे ? माँ नलिनी दीदी के पास आयीं। अनुनय-विनय कर, समझा-बुझाकर उसे शान्त किया। नलिनी दीदी का दुःख दूर हुआ। कपड़े बदल, भोजन कर वे कमरे में जाकर सोयीं। माँ का मन भी प्रसन्न हुआ। इस प्रकार की कितनी घटनाएँ घटती हैं। माँ सब सहन करती हैं, सभी को शान्त करती हैं।

पगली मामी अलग अपने घर में रसोई बनाकर खाती हैं। कुछ धान की जमीन है, उसकी आय हिस्से में मिली है। सिंहवाहिनी के मन्दिर की आय का कुछ अंश भी मिलता है। यजमानों से भी साधारण आय हो जाती है। सब मिलाकर एक तरह से चल जाता है। ब्राह्मण

विधवा, कठोर जीवन यापन करती हैं। राधू और जमाई तो माँ के घर ही भोजन करते हैं। किन्तु पगली मामी भी अपनी शक्ति के अनुसार उन लोगों को थोड़ा-बहुत खिलाने-पिलाने की चेष्टा करती रहती हैं। उनके प्राण पुत्री और दामाद में ही अटके हैं। राधू को लेकर उनकी दोहरी मुश्किल है। माँ के साथ उनका झगड़ा चलता ही रहता है——माँ ने उनकी पुत्री को उनसे छीन जो लिया है ! माँ तंग आकर कभी कह उठती हैं——'ले जा अपनी बेटी को !' तब मामी भाग आती हैं। जानती हैं न तो लड़की ही आएगी, और यदि ले भी आयीं, तो उन दोनों को खिलाने-पिलाने की सामर्थ्य भी तो नहीं है। राधू अपनी जन्मदात्री माँ को यद्यपि मुंडी-माँ कहती है, तथापि उसके प्रति उसका लगाव है। मामी का सिर थोड़ा मुँड़ा है, इसीलिए मुंडी-माँ कहती है। मुंडी-माँ से चिढ़कर राधू कभी कभी उन्हें दुत्कार कर भगा देती है——'जा, मर जा। जा, मर जा,' कहती है। ऐसे समय पगली आँसू पोंछती मुड़-मुड़कर बार बार देखती हुई लौट आती हैं। राधू जब अपनी ससुराल जाती है, तब उसे न देख पाने के कारण स्नेहातुरा (मामी)अपने घर जयरामवाटी और राधू की ससुराल ताजपुर के बीच तीन मील का अन्तर होने पर भी, बार बार आया-जाया करती हैं।

पगली मामी के मन में बड़ा दुःख है। ऐसे सुन्दर सोने के चाँद-जैसे लड़के अपनी माताओं को छोड़कर माँ के पास आकर साधू हो जाते हैं। माँ उनका घर-द्वार छुड़वा

देती हैं। कभी कभी भीतर का दुःख दबा न सकने के कारण किसी किसी लड़के से प्रत्यक्ष में कह बैठती हैं—"तुम लोगों की यह माँ ही तो गर्भधारिणी माताओं से उनके लड़के छीन लेती है और साधु बनाकर घर-द्वार छुड़वा देती है।" माँ यह सुनकर मन्द मन्द हँसती हैं।

पगली तथा और भी अन्य लोगों के मुँह से यह लड़के छीन लेने की बात प्रायः सुनी जाती। जिबटा के राय लोग धनी तालुकेदार हैं। उनमें से एक का इकलौता लड़का सयाना हो कुसंग में पड़कर दुश्चरित्र हो गया है। उसके पिता दुःखित हैं। बहुत चेष्टा करने पर भी वे उसे सुधार नहीं पा रहे हैं। एक दिन किसी सम्बन्धी के सम्मुख उन्होंने लड़के के विषय में दुःख प्रकट किया। सम्बन्धी ने परामर्श दिया—जयरामवाटी में माँ के पास उसे भेज दो। यह सुन भयभीत हो वे कह उठे, "उसके दुराचरण के लिए मैं उसे अलग कर उसके लिए कुछ सम्पत्ति रख जाऊँगा, पर उसे वहाँ नहीं भेजूँगा!"

माँ की शरण में आये एक सज्जन बीच बीच में माँ के लिए कुछ चीजें लाया करते। तीन कोस से भी अधिक का रास्ता है, फिर भी भारी बोझ लादकर वे परम आनन्दपूर्वक लाते। एक गाँव के भीतर से होकर उन्हें आना पड़ता। वहाँ के एक प्रौढ़ व्यक्ति से कभी कभी भेंट हो जाती। एक दिन वे बहुत भारी बोझ लेकर आ रहे थे। उन्हें देखकर वह प्रौढ़ व्यक्ति दुःखित हृदय से कह उठा, "किस मोह में पड़ गया है बेचारा!" माँ के

घर पहुँचकर उन्होंने उनकी चरणवन्दना की और साथ लायी हुई वस्तुएँ अर्पित कीं। माँ प्रसन्न हुईं और उन्होंने खूब आशीर्वाद दिया तथा कुशल-समाचार आदि पूछा। यथावत् उत्तर दे उन्होंने रास्ते में मिले उस व्यक्ति की बातों का भी उल्लेख किया। वह सुन माँ का मुखमण्डल गम्भीर हो उठा तथा थोड़ी देर बाद शिष्य को सम्बोधित करते हुए दृढ़ स्वर में कहा, "बेटा, ये लोग संसार के कीट हैं। भगवान् के प्रति इनकी भक्ति नहीं होती। ये लोग केवल संसार में आएँगे और जाएँगे, संसार-यंत्रणा भोगेंगे। इस प्रकार अनेक जन्म व्यतीत करने के बाद यदि किसी जन्म में भगवान् की कृपा हुई, तभी मुक्ति है।" माँ की बात सुन शिष्य विस्मित और स्तब्ध रह गया।

माँ के घर में केवल पुरुषों का ही आना-जाना होता है ऐसी बात नहीं। महिलाएँ भी आया-जाया करती हैं। सभी उम्र की महिलाएँ---तरुणी, युवती, प्रौढ़ा, वृद्धा। उनमें अधिकांश ही सम्भ्रान्त परिवारों की हैं---सुन्दरी, शिक्षिता, कुमारी, सधवा, विधवा सभी प्रकार की महिलाएँ। उस समय के पर्दानशीन और रूढ़ियों को पकड़े रहनेवाले समाज को यह आचरण असह्य लगता, क्योंकि उनकी दृष्टि में यह वर्णाश्रम के विरुद्ध आचरण था और समाज में उच्छृंखलता को प्रश्रय देनेवाला। माँ भी अत्यन्त सावधान रहतीं, जिससे किसी के मन में आघात न लगे या किसी प्रकार की सामाजिक या पारिवारिक झंझट न उठ खड़ी हो। किन्तु उनके स्नेह का आकर्षण ऐसा है,

जो मनुष्य को सभी प्रकार की शृंखलाओं से मुक्त कर देता है। जिसने एक बार भी उस स्नेहामृत का स्वाद चखा है, उसे और बाँधकर नहीं रखा जा सकता है। घर में और बाहर आपत्ति और विपत्ति आती अवश्य है, पर जो लोग सचमुच प्रेमी हैं, उन्हें कोई बाधा रोक नहीं सकती। माँ की कृपा से सारे विघ्न दूर हो जाते हैं और पथ प्रशस्त हो जाता है। इस प्रकार धीरे धीरे जाने-अनजाने माँ का प्रभाव नवीन मनुष्य, नवीन समाज, नवीन आचार-व्यवहार की रचना कर आगामी विश्व-बन्धुत्व का बीज बो रहा था तथा 'वसुधैव कुटुम्ब' की नींव रख रहा था। नर-नारी नवजीवन की चेतना पा हर्ष से उत्फुल्ल हो उठे।

आरामबाग के वकील मणीन्द्र बाबू ठाकुर के विशेष भक्त हैं। विद्यार्थी-जीवन में 'कथामृत' के रचयिता मास्टर महाशय का सान्निध्य प्राप्त कर धन्य हुए हैं, उनके विशेष स्नेहभाजन एवं विश्वासपात्र रहे हैं। उन्होंने 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' (हिन्दी में 'श्रीरामकृष्णवचनामृत') के तृतीय भाग की पाण्डुलिपि लिपिबद्ध की है। मास्टर महाशय अच्छी तरह परखकर अति योग्य व्यक्ति को ही यह गुरुभार दिया करते। काम भी बहुत कठिन और दायित्वपूर्ण था। मास्टर महाशय भाव-तन्मय नेत्रों से मानो सभी पुराने दृश्यों को प्रत्यक्ष देख रहे हैं और बोलते जा रहे हैं। वे जिस प्रकार बोलेंगे, ठीक वैसा ही लिखना होगा। प्रश्न करने की गुंजाइश नहीं। लम्बे समय तक श्री 'म' के साथ रहने के कारण मणीन्द्र बाबू उनके

द्वारा परमाराध्या माँ की महिमा से परिचित हुए तथा जयरामवाटी आना-जाना शुरू किया। आरामबाग से एक कोस पश्चिम वायु ग्राम में उनका पुश्तैनी घर है। गाँव के जमींदार हैं, सम्मानित सम्भ्रान्त परिवार में जन्मे हैं और फिर वकील हैं। अतएव इस क्षेत्र में सभी उनसे सुपरिचित हैं। जयरामवाटी उनके गाँव से लगभग छह कोस मात्र है, इसलिए वहाँ के लोग भी उन्हें जानते हैं, उनका सम्मान करते हैं।

लड़के के मुँह से श्री माँ की बात सुन मणिबाबू की माँ उनके दर्शन करने एक बार जयरामवाटी गयीं। दर्शन करके माँ की स्नेह-कृपा पाकर मणिबाबू की माँ विशेष रूप से खिंच गयीं और उनका संसार के प्रति आकर्षण कम होने लगा। उनका अपना बहुत बड़ा संसार है— पुत्र, पुत्र-वधू, विधवा पुत्री, नाती-नातिन, नौकर-चाकर, स्वजन-सम्बन्धी, अतिथि-अभ्यागत, घर में भगवान् की पूजा-अर्चा, यह सब। इन सभी कामों में वे ही घर की कर्ता-धर्ता हैं। ऐसा सुन्दर संसार वे ही चलाती हैं। पक्की गृहिणी हैं। सबके मुँह पर उनकी दक्षता के लिए प्रशंसा के शब्द हैं। माँ का स्नेह प्राप्त कर संसार के प्रति उनका आकर्षण दिनोदिन कम होने लगा तथा वे बार बार माँ के पास आने-जाने लगीं। जयरामवाटी आने पर वे घर लौटना नहीं चाहतीं। वहीं पड़ी रहतीं। माँ तथा भक्तों की सेवा कर परम आनन्द प्राप्त करतीं। उनका वहाँ दीन-हीन की तरह रहना और नौकरानी के

समान सभी प्रकार का काम करना सबको मोहित कर लेता। इस सम्भ्रान्त महिला का इस प्रकार माँ के पास रहने और काम करने की बात सुनकर स्थानीय लोगों के आश्चर्य की कोई सीमा न रहती। मणीन्द्र बाबू, घर-गृहस्थी की दृष्टि से हो या जन्मदात्री माँ की सुख-सुविधा का ख्याल करके हो, अपनी माँ का बारम्बार जयरामवाटी जाना और अधिक दिन तक वहाँ रहना पसन्द नहीं करते थे ऐसा प्रतीत होता है। एक बार किसी भक्त सन्तान के साथ भेंट होने पर मणिबाबू की माँ ने उसके पास श्रीमाँ के निकट जाने की उत्कण्ठा प्रकट की थी और कहा था, "मणि कहता है कि वह शीघ्र ही मुझे भिजवा देगा। यदि नहीं भिजवाएगा, तो मैं स्वयं भागकर चली जाऊँगी।" कभी कभी तो वे एक नौकरानी को साथ ले पैदल ही जयरामवाटी चली आतीं। इसके थोड़ समय बाद ही वे परलोक सिधार गयीं। श्राद्धादि कर्म समाप्त होने पर मणिबाबू जयरामवाटी आये और अश्रुपूर्ण नेत्रों से श्री माँ से बोले, "माँ ने आपके पास आने का सोचकर सब ठीक-ठाक कर लिया था, थैले में कपड़े भी रख लिये थे। इसी बीच वे अस्वस्थ हो गयीं और आना न हुआ। थोड़े ही दिनों के भीतर उनका शरीर चला गया।" श्री माँ के नेत्र भी सजल हो उठे और वे कातर कण्ठ से खेद प्रकट करने लगीं—"मेरी बहू आऊँगी-आऊँगी कहती रह गयी और उसका माँ के घर आना न हो सका!" (क्रमशः)

०

# धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

*अनुवादक—स्वामी व्योमानन्द*

(गतांक से आगे)

**स्थान—एक भक्तगृह**

**१९ फरवरी १९२२**

महाराज ने एक भक्त से पूछा—कैसे हैं आप ?

उत्तर—खराब नहीं, एक प्रकार से ठीक ही चला है।

महाराज—मन कैसा है, कहिए ?

उत्तर—आजकल खराब नहीं है।

महाराज—ठीक है, यह अच्छी बात है, मन अच्छा रहने से ही हुआ। उनके पादपद्मों का स्मरण कीजिए, उनकी जैसी इच्छा हो करें। उनके पादपद्मों में मन को सदा निमग्न रखिए, संसार छोड़ दीजिए। संसार में मन अधिक मत लगाइए, यह अति जघन्य स्थान है। फिर भी जितना बिना किये नहीं चल सकता उतना कीजिएगा। आप कुछ प्रयत्न कीजिए—आपके भीतर सार है, थोड़ा प्रयत्न करने से ही हो जायगा। Struggle, struggle (प्रयत्न, प्रयत्न), You must have to struggle hard (आपको जी-जान से प्रयत्न करना होगा)। लग जाइए—थोड़ा प्रयत्न करने से ही देखेंगे कितना आनन्द है, कितना मजा है। इस माया को पार करना होगा—इसी जीवन में इसके परे जाना होगा। इस माया को पार करना क्या सहज है! खूब परिश्रम कीजिए। खूब विश्वास रहना चाहिए। सन्देह लेश मात्र भी रहे, तो नहीं होगा। बलपूर्वक विश्वास लाना होगा।

प्रश्न—बीच बीच में यदि अविश्वास आये तो ?

उत्तर—बात क्या है जानते हैं, पक्का विश्वास तब तक नहीं होता, जब तक realisation (अनुभूति) नहीं होती। यदि एक बार उनके दर्शन हो जायँ, अनुभूति हो जाय, तभी ठीक ठीक विश्वास होता है। उसके पहले जो भी तीव्रतम विश्वास होता है, वह उस पूर्ण विश्वास की अत्यन्त सन्निकट अवस्था ही कही जा सकती है। जोर-जबरदस्ती करके विश्वास लाना चाहिए। बारम्बार ऐसा करते करते विश्वास दृढ़ होता है। अविश्वास नहीं करना चाहिए। जब सन्देह आए, तब सोचना चाहिए—भगवान् सत्य हैं, मैं अपने भाग्य-दोष के कारण, अपने अशुभ संस्कारों के कारण उन्हें समझ नहीं पा रहा हूँ। जब उनकी कृपा होगी, तब होगा।

यह मन क्या उनकी धारणा कर सकता है ? वे इस मन-बुद्धि से अति दूर हैं। यह जो सृष्टि देख रहे हैं, यह है मन का राज्य, मन ही इसका कर्ता है। यह सब मन की ही सृष्टि है। वह इसके उस पार नही जा सकता। भगवान् का नाम लेते लेते अन्य एक सूक्ष्म मन जन्म लेता है। वह मन अभी क्षुद्र बीज के रूप में सबके भीतर है, साधना के द्वारा जब वही develop (विकास लाभ) करता है, तब नाना प्रकार की सूक्ष्म अनुभूतियाँ होती हैं। वह भी final (चरम) नहीं है। यह सूक्ष्म मन भी परमात्मा तक नहीं ले जा सकता, फिर भी ऊपर बहुत दूर ले जाता है। तब बाहर के संसार का कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

बस भगवद्भाव में ही डूबे रहने की इच्छा होती है।

उसके बाद है, समाधि। उस अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता -- वह अस्ति-नास्ति के परे है। वहाँ सुख नहीं, दुःख नहीं, आनन्द नहीं, निरानन्द नहीं, प्रकाश नहीं, अँधेरा नहीं -- क्या है वह वाणी से नहीं बताया जा सकता।

वेद में सत्त्व, रज और तम--इन तीन गुणों की बात है। इन तीनों गुणों के परे जाना होगा। त्रिगुणातीत होना होगा। गीता में कहा है--"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।" तमोगुण का लक्षण है--मारपीट, लड़ाई-झगड़ा, ईर्ष्या-द्वेष, अभिमान और अहंकार। रजोगुण में थोड़ा धार्मिक भाव है, किन्तु उसका लक्षण है -- नाम-यश आदि की आकांक्षा। सो कैसा, जानते हैं? एक व्यक्ति ने कुछ समय ध्यान किया, उसके बाद ध्यान से उठकर चारों तरफ देखने लगा कि उसे किसी ने देखा या नहीं। उसके बाद है सत्त्वगुण। वेद में इन तीन गुणों के बारे में वर्णन है, पर इन गुणों के उस पार का वर्णन नहीं है। वेद से भी परे जाना होगा।

प्रश्न--इस संसार में कुछ कार्यों के प्रति कर्तव्य-बोध मालूम होता है। उन्हें किस प्रकार करना चाहिए?

महाराज--यदि आप इस भाव से कर सकें कि यह भगवान् का संसार है--मेरा नहीं, तो फिर आपको कोई हानि नहीं होगी। संसार की किसी भी वस्तु पर 'मेरा'-बोध न रखिएगा। जब तक उनकी इच्छा मुझे यहाँ रखने

की है रखेंगे, और जब उनकी इच्छा होगी, ले जाएँगे।

संसार के काम करते समय खूब मन लगाकर कीजिए, जिससे आपके मन का भाव कोई न पकड़ पाए। किन्तु मन ही मन यह भाव दृढ़ रखें कि मेरा यह सब कुछ भी नहीं है — किसी भी वस्तु पर आसक्ति न रहे। मन में, प्राणों में अनुभव करना होगा कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, वे ही सब कर रहे हैं। उनकी इच्छा से यह संसार रहे तो भी अच्छा, न रहे तो भी अच्छा। उनकी जैसी इच्छा हो, करें।

प्रश्न—इस प्रकार संसार के काम करते करते यदि मन बहक जाय, शायद किसी वस्तु पर 'मेरा'-बोध आ जाय, तब क्या करना चाहिए ?

महाराज—Do not yield to depression (हताश मत होइए)। Never allow yourself to be depressed (निराशा को मन में स्थान कभी न दीजिए)। मन कभी कभी बहक जा सकता है, तो बहक जाय। फिर से बलपूर्वक लग जाना होगा। प्राणपण से चेष्टा करनी होगी, जिससे फिर न बहक जाय। जितनी बार भी गड़बड़ क्यों न हो, कभी depressed (निराश) मत होइए। सर्वदा मन में उत्साह रखिए। उद्यमपूर्वक लग जाइए, किसी भी हालत में मत छोड़िए। To do or die, let this be your motto (मन्त्रं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि—यही आपका मूलमंत्र हो)। भगवान्-लाभ करना ही होगा, इसी जीवन में करना होगा। यदि इस शरीर में भगवान्-लाभ

नहीं हुआ, यदि इस मन द्वारा उन्हें न पा सका, तो फिर इस शरीर की आवश्यकता ही क्या है ? इस मन को लेकर फिर क्या होगा ? ऐसे शरीर और मन का नाश हो भी जाय, तो मेरी क्या हानि है ? जिस किसी भी प्रकार से हो, मुझे भगवान्-लाभ करना ही होगा, इस प्रयत्न में फिर शरीर रहे या जाय।

प्रश्न—ये जो विभिन्न पूजा-विधियाँ हैं तथा नाना प्रकार के देवी-देवता हैं, इनके भीतर क्या कोई विशेषता है ?

महाराज—जो भी विभिन्न देवी-देवता हैं, वे सब एक ही हैं। वे सब इस मन की ही सृष्टि हैं। शास्त्र में चार प्रकार के साधनों का वर्णन है—

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बाह्यपूजाऽधमाधमा ॥

प्रत्यक्ष दर्शन का साधन सबसे उत्तम है — परमात्मा हैं, उनका सब समय अनुभव हो रहा है। उसके बाद है ध्यान, जहाँ वे हैं और मैं हूँ — जप-तप सब बन्द। जब ध्यान प्रगाढ़ होगा, तब केवल इष्ट का ही रूप देखेगा, तब जप-तप नहीं चलता। उसके नीचे है स्तव-स्तुति और जप—जप-तप किया जा रहा है और साथ ही साथ रूप का भी चिन्तन किया जा रहा है। और उसके भी नीचे है यह बाह्य पूजा—प्रतीक या प्रतिमा-उपासना। ये सभी different stages of evolution (क्रमोन्नति की विभिन्न अवस्थाएँ) हैं। जिसके मन की जैसी अवस्था है, वह वहीं से साधना आरम्भ कर धीरे धीरे अग्रसर होता जाता है।

एक ordinary man (साधारण मनुष्य) को ही लीजिए। यदि उसे आरम्भ से ही निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन या समाधि के सम्बन्ध में उपदेश दिया जाय, तो वह कुछ भी धारणा नहीं कर सकेगा, उसे अच्छा भी नहीं लगेगा-- एक-दो दिन प्रयत्न करके छोड़ देगा। किन्तु यदि उसे फूल, बेलपत्ती लेकर पूजा करने दिया जाय, तो वह समझेगा कि मैंने कुछ तो किया है। उसका मन भी कुछ क्षण के लिए थोड़ा स्थिर होगा। इससे उसे आनन्द भी मिलेगा। उसके बाद वह क्रमश: stage outgrow (इस अवस्था का अतिक्रमण) करता है।

मन जितना fine (सूक्ष्म) होता जाता है, उतना ही gross (स्थूल) वस्तुओं में आसक्ति कम होती जाती है। मान लीजिए, आपने पहले पूजा आरम्भ की। कुछ दिन बाद देखेंगे कि आप ही आप मालूम होने लगेगा कि जप करना अच्छा है। तब जप की संख्या बढ़ जायगी और फिर कुछ दिन बाद मालूम होने लगेगा कि ध्यान करना अच्छा है, तब केवल ध्यान करने की इच्छा होगी। इसी तरह मनुष्य क्रमश: लक्ष्य की ओर अग्रसर होता जाता है। इसी को कहते हैं natural growth ( स्वाभाविक उन्नति )। इस उपाय से मन जो भी प्राप्त करता है, वह कभी नष्ट नहीं होता।

मान लीजिए आप इस आँगन में हैं और आपको इस छत पर जाना है। पहले यह जान लेना होगा कि सीढ़ी कहाँ है, तब कहीं आप सीढ़ी से चढ़कर ऊपर जा

सकते हैं। ऐसा न कर यदि आपको कोई आँगन से उछाल दे, तो आपको बहुत कष्ट होगा और उससे विपत्ति की भी बहुत सम्भावना है। यह जो बहिर्जगत् में नियम-कानून देख रहे हैं, ठीक उसी तरह अन्तर्जगत् में भी व्यवस्था है।

प्रश्न--कोई एक भाव मेरे लिए हानिकारक है, यह जानने के बाद भी यदि वह मन में बार बार उठे, तब क्या करना चाहिए ?

महाराज--सोचिएगा कि यह भाव मेरे लिए अत्यन्त विघ्नकर है, मेरा परम शत्रु है, मेरा सर्वनाश कर सकता है। यह विचार आप बार-म्बार अपने मन पर impress (अंकित) कीजिए--देखेंगे अपने आप ही वह भाव मन से चला जायगा। मान लीजिए यह जो लड़का आपके सामने बैठा है, उसके सम्बन्ध में आप अपने मन में विचार उठा रहे हैं कि वह कुछ भी नहीं है, बिलकुल तुच्छ है। तब देखेंगे कि उस लड़के के सम्बन्ध में आपके मन में कोई impression (संस्कार) नहीं होगा, उसकी तरफ आपका मन फिर बिलकुल ही नहीं जाएगा। एक और दृष्टान्त लीजिए--एक छोटे बच्चे का। वह नहीं जानता कि विष खाने से क्या होता है, उसके पास विष पड़ा रहे, तो भी वह डरता नहीं। किन्तु यदि आप थोड़ा सा विष देख लें, तो सिहर-कर 'बाप रे' कहते हुए दस कदम पीछे हट जाएँगे; क्योंकि आप जानते हैं कि विष खाने से आदमी मर जाता है।

मन बड़ा विचित्र है--जो सिखाएँगे वही सीखेगा।

पहले ideal fixed (आदर्श स्थिर) होना चाहिए। भगवान् ही जीवन के एकमात्र आदर्श हैं। Ideal must never be lowered--(आदर्श को कभी भी नीचे मत लाइए)। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्'--वे क्षुद्र वस्तु से भी क्षुद्र हैं, फिर इस solar system (सौरमण्डल) से भी बड़े हैं। वे सर्वत्र सर्वदा विराजमान हैं, यह जानना होगा। वे आपके भीतर भी हैं, मेरे भीतर भी हैं, और फिर जीव-जन्तु, उद्भिद--सभी के भीतर हैं। पर हाँ, कहीं उनका प्रकाश अधिक है और कहीं कम; किन्तु सर्वत्र वे ही विराजमान हैं। थोड़ा परिश्रम कीजिए, देखेंगे इसमें कितना आनन्द है। संसार तो देख लिया, अब इस ओर एक बार देखिए। "Knock and it shall be opened unto you"--दस्तक दो, दरवाजा खुल जाएगा। पर्दा गिरा हुआ है, उसे हटाकर देखना होगा। इस माया के घेरे के बाहर जाना कोई कठिन बात नहीं, अति सहज है। एक बार जरा लग तो जाइए, देखेंगे कि दुनिया अन्य एक प्रकार की हो गयी है।

प्रश्न--शास्त्र इत्यादि में जो बातें हैं, उन सब पर क्या विश्वास किया जा सकता है?

महाराज--हाँ, वे सब सत्य हैं। लोगों के कल्याण के लिए युग युग से ये सब व्यवस्थाएँ की गयी हैं; वह सब मानना चाहिए। शास्त्रोक्त कर्म रखने होंगे, नहीं तो नहीं चलेगा। ये कर्म ही आपको आखिर तक ले जाएँगे। कर्म

हैं तो अनादि, पर उनका अन्त है। जब आपको सत्योपलब्धि होगी, तब वे कर्म अपने आप ही झर जाएँगे।

प्रश्न––आहार आदि किस तरह करना चाहिए।

महाराज––बहुत कठिन प्रश्न किया आपने इसका उत्तर देना बड़ा कठिन है। मनुष्य का system (शारीरिक गठन) इतना भिन्न है कि सब लोगों के लिए एक ही नियम नहीं बनाया जा सकता। मान लीजिए कोई वस्तु मुझे सहन होती है, पर आपके शरीर को नहीं सहन होती। मेरा system (शरीर) किसी वस्तु को assimilate (ग्रहण) कर सकता है, आपका शरीर शायद उसे ग्रहण न कर सके। इसीलिए हम लोगों के गीता आदि शास्त्रों में आहार के सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ कहा नहीं गया है। गीता में आहार सम्बन्धी जो उल्लेख है, वह केवल एक general classification (साधारण विभाग) है। साधारण तौर से यही कहा जा सकता है कि भोजन भारी न हो। यह सावधानी बनाये रखकर जिसके पेट में जो सहता है, वैसा भोजन किया जा सकता है।

**स्थान–बेलुड़ मठ**

**१७ मार्च १९२२**

सन्ध्या हो गयी है। मठ में ठाकुर की आरती हो रही है। गंगा के दोनों किनारे के अनेक देवी-देवताओं के मन्दिरों से भी आरती की घण्टा-ध्वनि सुनायी पड़ रही है। बरामदे में महाराज स्थिर भाव से बैठे हुए हैं। सामने कुछ भक्त बैठे हुए हैं। लगभग घण्टे भर बाद

मठ के साधु-ब्रह्मचारीगण एक एक करके महाराज को प्रणाम कर वहाँ बैठे। एक भक्त ने प्रणाम करने के वाद दो-एक प्रश्न किये।

प्रश्न--महाराज, तपस्या किसे कहते हैं ?

महाराज--तपस्या अनेक प्रकार की होती है। अनेक लोग दीर्घकाल तक नहीं बैठने का व्रत लेते हैं। मैंने एक साधु देखा है--उन्होंने व्रत लिया था कि बारह वर्ष तक नहीं बैठेंगे। मैंने जिस समय देखा था, उस समय व्रत प्राय: समाप्त होता आया था--बस, पाँच-छह माह बाकी थे। लगातार खड़े रहने से उनका पैर फूलकर फीलपाँव के समान हो गया था। सोते समय वे एक रस्सी का सहारा लेते थे। एक आड़ी लकड़ी से रस्सी के दोनों छोर बँधे रहते थे। उसी रस्सी को पकड़कर वे रात को सोते थे। और भी एक प्रकार की तपस्या है--शीतकाल में सारी रात पानी में गले तक डूबकर जप करना। फिर एक प्रकार है--ग्रीष्म ऋतु में दोपहर में जब मध्याह्न सूर्य का प्रखर ताप रहता है, उस समय चारों ओर आग जलाकर उसके बीच में बैठकर जप करना। और भी एक प्रकार है--कीलों पर खड़े रहकर या बैठकर जप करना।

प्रश्न--यह क्या सच्ची तपस्या है ?

महाराज--भगवान् जाने! किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए ऐसा करते हैं। वे आशा करते हैं कि अगले जन्म में राजा होंगे या इस संसार को अच्छी तरह भोगेंगे।

प्रश्न--उन्हें इस प्रकार का फल मिलता है क्या ?

उत्तर--भगवान् जाने !

प्रश्न--तो फिर सच्ची तपस्या क्या है ?

महाराज--यह सब सच्ची तपस्या नहीं है--यह तो जो चाहे कर सकता है। शरीर को जीतना सहज है। मन को जीतना, काम-कांचन और नाम-यश की वासना जीतना बहुत कठिन है।

सच्ची तपस्या तीन बातों पर निर्भर करती है। प्रथम--सत्याश्रयी होना होगा, प्रत्येक कार्य में सत्य के खूँटे को सदैव पकड़कर रखना होगा। द्वितीय--कामजयी होना होगा। तृतीय--वासनाजयी होना होगा। इन तीनों का पालन करना ही होगा। यह सब जीवन में लाना या इसकी साधना करना ही असल तपस्या है। इनमें दूसरी सबसे आवश्यक है, अर्थात् ब्रह्मचारी होना होगा। हम लोगों के शास्त्र कहते हैं, जो लोग बारह वर्ष तक तन-मन-वचन से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उनके लिए भगवान् को पाना अति सहज हो जाता है। यह बड़ा कठिन है। मैं अपने अनुभव से तुम लोगों से कहता हूँ, ठीक ब्रह्मचारी हुए बिना ठीक ठीक ध्यान होना असम्भव है। सूक्ष्म वासना को जीतना बड़ा कठिन है। इसी कारण संन्यासियों के लिए इतने कठोर नियम हैं। संन्यासी को किसी नारी की ओर नहीं देखना चाहिए। इतना ही नहीं, फोटो देखने से भी मन पर एक छाप पड़ सकती है। मन का स्वभाव ऐसा है कि कोई सुन्दर वस्तु देखते ही वह उसका

भोग करना चाहता है। इस प्रकार इच्छा न रहते हुए भी अनेक वस्तुओं का भोग करता है। यह बड़ा हानि-कारक है। ब्रह्मचर्य में निष्ठा होने पर प्रत्येक वस्तु में प्रभु की विभूति देख पाओगे। ब्रह्मचर्य-पालन से ओजस्-शक्ति बढ़ती है।

प्रश्न—यह बड़े दु:ख की बात है कि इस विषय पर युवकों को कोई जोर देकर नहीं बताता।

महाराज—युवकों के लिए पहले गुरुगृहवास की प्रथा थी। वहाँ के लोग ब्रह्मचारी रहते थे। उसके बाद वे लोग घर वापस जाकर विवाह करते थे। निर्दिष्ट आयु तक ब्रह्मचर्य-पालन करने के फलस्वरूप विवाह करने के बाद उनके जो लड़के-बच्चे होते थे, वे बलिष्ठ और स्वस्थ होते थे। और जो संन्यासी हो जाते थे, वे जंगल में जाकर भगवत्-उपासना में जीवन व्यतीत करते थे।

प्रश्न—ब्राह्मण लोग ब्रह्मचर्य की यह बात जानते हैं। वे बालकों को ब्रह्मचारी कहते हैं। पर आज यह केवल बात की बात बन गयी है। महाराज, क्या सभी जातियों में इस बात का प्रचार नहीं किया जा सकता?

महाराज—क्यों नहीं, पर ब्रह्मचर्य के साथ ही साथ जापक होना चाहिए, नहीं तो ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं की जा सकती।

०

# श्रीरामकृष्ण की स्मृतियाँ

*गिरीश चन्द्र घोष*

[ गिरीशचन्द्र घोष ( १८४४–१९१२ ) बंगाल के प्रख्यात नाटचकार थे। उनमें नाटचकार के साथ कवि एवं अभिनेता की प्रतिभाओं का भी अपूर्व मेल था। अपने जीवन के एक गहरे मनोवैज्ञानिक क्षण में उनकी श्रीरामकृष्ण से भेंट हुई, जिन्होंने अपने प्रेम के प्रभाव से इस प्रतिभाशाली नास्तिक को सन्त में बदल दिया। गिरीश घोष ने अपने इस आध्यात्मिक पुनर्जन्म की गाथा बँगला में लिखी है, जिसका अँगरेजी में अनुवाद 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' नामक पत्रिका के मार्च-अप्रैल १९५३ के अंक में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत लेख वहीं से साभार गृहीत और अनूदित है।–सं०]

जब श्रीरामकृष्ण पर एक लेख लिखने का भार मुझ पर आया, तो मैंने सोचा कि यह बहुत सरल काम होगा। परन्तु, वास्तव में, अब मैं समझ रहा हूँ कि लिखना कितना कठिन है। सोचता था सहज होगा, क्योंकि मैंने उनका अथाह प्रेम पाया है। और साथ ही उनके प्रत्येक शिष्य से सुना है कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने उस पर अपार प्रेम की वर्षा की है। कितनी बार पुलकित मन से हम लोगों ने आपस में उस अपूर्व प्रेम की चर्चा की है। ज्योंही कोई शिष्य अपना निजी अनुभव दुहराता, त्योंही प्रेरित हो भीतर में शत झरने फूट पड़ते और तीव्र वेग से शत धाराएँ प्रवाहित हो जातीं। शिष्य के शब्दों से उतना नहीं जितना कि उसकी भावपूर्ण अभिव्यक्ति से, हृत्तन्त्री के तार झंकृत हो उठते और उसके अनुभव मानस-चक्षुओं के सामने स्पष्ट और जीवित हो उठते।

शिष्य के एक शब्द या एक घटना के वर्णन से ही मुझे महसूस होने लगता कि मैंने भी तो ऐसे प्रेम-भरे शब्दों को सुना है। मैंने भी तो कई ऐसे करुणा-भरे दृश्यों को देखा है। एक शब्द मात्र से शिष्य उस अनुभव को पुनः जी लेता और श्रोता को लगता कि वह भी उसमें शामिल है। परन्तु मुझे आश्चर्य होगा यदि मेरे पाठक भी उतनी ही स्पष्टता से मेरे अनुभवों में हाथ बँटा सकें। क्या मैं उन्हें यह अनुभव शब्दों द्वारा दे सकूँगा? एक प्रश्न पूछता हूँ--"क्या आप अपनी स्वयं की माँ से पाये प्रेम की तन्मयता का वर्णन कर सकते हैं?" मेरे लिए तो यह सम्भव नहीं। मात्र यही उद्गार मेरे मुख से निकलेगा--"अहा, माँ का प्यार, माँ का प्यार!" अपनी माँ की हर क्रिया में, उसकी हर दृष्टि या चेष्टा में मैंने जो अनुभव किया है, वह शब्दों की अभिव्यक्ति से परे है। इसके अलावा, वास्तव में क्या बिना स्वयं माँ बने, कोई माँ के प्यार को समझ सकता है? यदि ऐसा सम्भव भी हो, तो श्रीरामकृष्ण के प्रेम की समझ तो उसके भी बहुत परे है। संसार में हमारे सम्बन्ध माया द्वारा सीमित हैं। पिता का स्नेह या माता का प्यार भी इसी माया के अन्दर आता है। प्रायः माया से प्रेरित प्रेम पुत्र के सांसारिक सुख की ही चाह करता है, उसकी सांसारिक उन्नति ही खोजता है, और कुछ नहीं। प्रायः देखा जाता है कि यदि पुत्र आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के हेतु सांसारिक कर्तव्यों की अवहेलना कर देता है, तो

वह माँ-बाप का कोपभाजन बन जाता है। सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी यदि पुत्र गृहस्थ होने की बजाय संन्यास-जीवन चुनता है, तो माता-पिता की अप्रसन्नता का कारण बनता है। वे उसे समझाते हैं कि हरएक काम के लिए निश्चित समय होता है, इसलिए संसार में अपने कर्तव्यों का ठीक पालन करते हुए सांसारिक जीवन शेष करने के पश्चात् ही आध्यात्मिक जीवन की ओर ध्यान दे। यदि लड़का उनका कहना न माने, तो स्पष्ट शब्दों में तो वे यह नहीं कहेंगे कि लड़का बहक गया है, परन्तु अपने परिचितों और सम्बन्धियों के पास दुःख-भरे शब्दों में यह कहने में नहीं चूकेंगे कि वह उद्देश्यहीन हो गया और किसी काम का न निकला। माँ-बाप के प्रेम में स्वार्थ है। यह देखा जाता है कि पिता सुयोग्य पुत्र के सम्बन्ध में पक्षपाती होता है। जब तक पुत्र छोटा और असहाय होता है, माँ-बाप निःस्वार्थी होते हैं। परन्तु अधिकांश माता-पिता यह अपेक्षा रखते हैं कि बुढ़ापे में पुत्रों द्वारा उनकी देख-भाल होगी। माँ का अयोग्य बेटे के प्रति प्रेम अधिक होता है। पिता का प्रेम या माँ का प्यार सच में बहुत ऊँचा है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्ण-रूपेण स्वार्थशून्य है।

यदि मैं अपनी कल्पना का विस्तार करूँ, तो अपने माँ-बाप के प्रेम की एक झलक पा सकता हूँ, पर श्रीरामकृष्ण के प्रेम की, उस विशुद्ध, निर्मल तथा पूर्णतया स्वार्थ-विहीन प्रेम की धारणा कैसे कराऊँ, कैसे उसे शब्दों में

बताऊँ ? स्वार्थगन्धशून्य, माया के बन्धनों से परे, ऐसी उस ज्ञानावस्था को उपलब्ध किये बगैर कैसे मैं उस व्यक्ति के कार्य-कलापों को समझ सकता हूँ, जिसने माया के वन्धनों को काट डाला हो और जिसमें कोई दोष न हो ? यदि मैंने उस अवस्था को प्राप्त किया होता, जिसमें श्रीरामकृष्ण अवस्थित थे--ऐसी अवस्था, जो माया के परे हो, और मेरा कोई शिष्य होता, तब मैं श्रीरामकृष्ण के प्रेम को थोड़ा-बहुत समझने में समर्थ हो सकता था। परन्तु यह नहीं जानता कि तब भी उसे अभिव्यक्त कर पाता या नहीं। उन प्रसंगों को सुनकर जो अन्य शिष्यों ने मुझे बतलाया है तथा उनको अपने अनुभवों से तुलना करके मैंने श्रीरामकृष्ण के प्रेम को थोड़ा-बहुत समझा है, परन्तु यह सम्भव नहीं कि सहयात्री के जीवात्मा की यात्रा का वर्णन कर सकूँ तथा उसके हृदय की इच्छाओं और प्रेरणाओं की तसवीर खींच सकूँ। मैं अपनी जीवन-कहानी समझूँ या नहीं, परन्तु दूसरों का जीवन तो मेरे लिए पूर्णतया बन्द किताब है। इसलिए इस लेख में मैं अपनी ही कहानी कहूँगा कि मैंने अपने प्रति श्रीरामकृष्ण के प्रेम में क्या अनुभव किया है। उसके बाहर कुछ कहने में मैं असमर्थ हूँ। इसलिए अपने बारे में ही कहूँगा। मेरे पाठको, मेरी इस दयनीय स्थिति को जानकर कृपया मुझे क्षमा करेंगे।

दूसरी बात यह कि वे, जो श्रीरामकृष्ण के पास गये थे, सरल, चरित्रवान् और भले स्वभाववाले थे।

नरेन्द्र जैसे युवक और अन्य, जो कि उनके अपने समझे जाते हैं, ठाकुर के पास उस समय से ही जाने लगे थे, जब कि वे लोग काफी कम उम्र के थे। उनके प्रेम से आकृष्ट हो उन लोगों ने बाद में उनके सन्देश का प्रसार करने के लिए अपने घर-परिवार का परित्याग कर संन्यास-जीवन अपना लिया था। उन लोगों के प्रति उनके प्रेम के वर्णन से शायद ही उनके प्रेम का सही चित्रण हो सके। उन बालकों के प्रति, जो कि पवित्र तथा निर्दोष थे और जिन्होंने सब कुछ छोड़कर उनका आश्रय लिया था, उनका प्रेम होना अत्यन्त स्वाभाविक था। परन्तु मैं भी उनके प्रेम का पात्र था। यह मुझे अत्यन्त असाधारण लगता है। श्रीरामकृष्ण मुझसे जो प्रेम करते, उसकी कोई शर्त या सीमा न थी। यह इस सत्य का प्रमाण है कि वे अहैतुकी दया और करुणा के सागर थे। भगवान् का एक नाम है—'पतित-पावन'। अन्य कोई नहीं, मैं ही इसका प्रमाण हूँ कि वे इस नाम के अधिकारी थे। ठाकुर के साथ जो लोग थे, उनमें कुछ चंचल मन वाले लोग रहे होंगे, परन्तु मेरे चंचल और अस्थिर स्वभाव की तुलना में फिर भी वे सब सन्त थे। उनमें कुछ कमजोरियाँ रही होंगी, उनके पैर कुछ बार फिसले रहे होंगे, फिर भी मेरे हिमालय-सदृश दोषों की तुलना में वे कुछ भी नहीं। अपने बचपन से ही मैं अलग ही ढाँचे में ढला था। मैंने कभी सीधे रास्ते से चलना सीखा ही न था। मैंने हमेशा टेढ़ा रास्ता ही चुना था। इन सब दोषों के

होते हुए भी मैं उनके अथाह प्रेम का पात्र था। उनकी अपार कृपा और प्रेम का प्रकाश जितना स्पष्ट मेरी दशा में दिखायी देता है, उतना अन्यत्र नहीं। पाठकों को इसका आभास उस कहानी से मिलेगा, जो मैं नीचे कहनेवाला हूँ।

श्रीरामकृष्ण ने मुझे ऐसे समय में शरण दी थी, जब मेरा हृदय संशय और विषयासक्त सन्तापों से दग्ध हो गया था। मेरी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा, बचपन से पालक का अभाव, यौवन की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियाँ-- इन सबने मिलकर मुझे सही रास्ते से दूर भटका दिया था। नास्तिकता उस समय का फैशन थी। भगवान् के अस्तितत्व में विश्वास मूर्खता और कमजोरी समझी जाती थी। मेरे मित्रसमुदाय में यदि कोई भगवान् का न होना सिद्ध कर देता, तो दिल खोलकर उसकी प्रशंसा होती और उसे सम्मान मिलता। मैं उन लोगों का मजाक़ उड़ाया करता, जो भगवान् में विश्वास करते थे। विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ पन्ने पढ़कर ही मैं इस निर्णय पर कूद पड़ा था कि धर्म कोरी कल्पना और गप्प है, पुरोहितों ने उसको गढ़ा है, जिससे लोग भयभीत हो नैतिक बनें तथा पापाचार करने से दूर रहें। बुद्धिमानी इसी में है कि लोग किसी भी तरीके से अपना काम साध लें, चाहे वह सही हो या गलत। कोई अनुचित काम तभी ओछा कहलाएगा, जब पकड़ में आ जाय, उसके पहले नहीं। दिन की रोशनी में खुल जाने से पाप बनता था। अपने उद्देश्य को छिपे तौर से पूरा कर लेना कुशलता का परिचायक

था। परन्तु भाग्य द्वारा परिचालित इस जगत् में इस प्रकार की कुशलता ज्यादा दिन नहीं चलती। दुर्दिन निश्चित आएँगे। और जब वे आते हैं, तब कटु सत्य समझ में आते हैं। उनसे मैंने बड़ा सबक सीखा कि पाप को छिपाने का कोई तरीका नहीं है। एक कहावत है-- "खून छिपता नहीं है"। यह बिलकुल सच है, जैसा कि मैंने सीखा परन्तु तब तक कर्मों का फल मिलने लगा था। मेरी आँखों के सामने भयावह भविष्य झूल रहा था। वह उस उपाख्यान का अन्त नहीं वरन् प्रारम्भमात्र था, जिसने मेरे भविष्य को अन्धकारमय कर दिया था। दण्ड मिलना शुरू हो गया था, पर मुझे उससे बचने की कोई राह तब तक नहीं नजर आ रही थी। मेरे कुकर्मों का लाभ उठाकर मुझे नष्ट करने पर तुले हुए शत्रुओं द्वारा चारों तरफ से घिरा हुआ मैं मित्रहीन होकर हताशा के समुद्र में इधर-उधर थपेड़े खा रहा था।

ऐसे संकटकाल में मैंने सोचा, "क्या भगवान् है? क्या वह मनुष्य की प्रार्थना सुनता है? क्या वह उसे अन्धकार से निकालकर उजेले में लाता है?" मेरे अन्तर्मन ने कहा, "हाँ।" उसी समय आँखें मूँदकर मैंने प्रार्थना की, "हे प्रभो, यदि तुम हो तो मुझे पार करो। तुम्हारे सिवाय मेरा और कोई नहीं, मुझे शरण दो।" मुझे गीता का श्लोक याद आ गया, जहाँ भगवान् कहते हैं, "जो मुझे केवल संकट के समय ही पुकारते हैं, उनकी भी मैं सहायता करता हूँ और उन्हें आश्रय प्रदान करता हूँ।"

भगवान् का यह वचन मेरे हृदय की गहराइयों में पैठ गया और उसने उस अशान्ति में मुझे सहारा दिया। मुझे प्रतीत हुआ कि गीता के वचन सच हैं। जिस प्रकार सूर्य रात्रि के अन्धकार को दूर कर देता है, उसी प्रकार आशा-सूर्य के उदय ने मेरे मन पर छाये हताशा के गहरे अन्धकार को दूर कर दिया। कठिनाइयों के सागर में किनारा मिला। परन्तु बीते हुए बरसों में मैंने अविश्वास को ही तो पोसा था। बहुत तर्क किये थे कि भगवान् नहीं है। इन सब विचारों के संस्कार कहाँ जाते? कर्म और कर्मफल के विचार को लेकर वह हिसाब लगाने लगा कि इस इस कर्म के फलस्वरूप यह खतरे से पार होने का उपाय मिला है। ऐसा कहा जाता है कि संशय बड़ी मुश्किल से मरता है। मैं फिर उसका शिकार हो गया। परन्तु अब मुझमें जोर देकर यह कहने का साहस न रहा कि भगवान् नहीं है।

जिज्ञासा जाग उठी थी। घटनाओं के प्रवाह को देखकर कभी विश्वास और कभी संशय होता। जिनसे भी मैं अपनी समस्या की चर्चा करता, सब एक ही बात कहते कि बिना गुरु के संशय नहीं जायगा और आध्यात्मिक जीवन में भी कुछ लाभ न होगा। परन्तु मेरी बुद्धि किसी मनुष्य को गुरु मानने के लिए तैयार न थी; क्योंकि गुरु को इन शब्दों के साथ प्रणाम करना होता है—"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः..." । अपने-जैसे किसी मनुष्य को मैं कैसे ऐसा सम्बोधित कर सकूँगा?

यह पाखण्ड होगा। परन्तु साथ ही संशय का अत्याचार असहनीय था। भयानक द्वन्द्व मेरे हृदय को चीरे डाल रहे थे। वर्णन करने की बजाय उसकी कल्पना ही ठीक की जा सकती है। जैसे किसी आदमी को आँखों पर पट्टी बाँधकर जबरदस्ती एकान्त कमरे में ले जाकर बिना भोजन-पानी के बन्द कर दिया जाय, तो उसकी मानसिक दशा कैसी होगी? यदि उसके मन की अवस्था की कल्पना आप कुछ कर सकते हैं, तो समझ लीजिए मेरी हालत भी ऐसी ही थी। कई बार आवेगों से मेरे प्राण रुक-से जाते। हताशा-भरे विचार मेरे हृदय पर आरी चला रहे थे। बीते दिनों की याद पुनः पुनः जागती और हृदय पर छाये अन्धकार का छोर नजर न आता। ऐसी ही अवस्था में मैंने श्रीरामकृष्ण को अपनी गली से परम-भक्त बलरामबाबू के घर जाते हुए देखा था और पहली बार उनके प्रति ऐसा खिंचाव मालूम हुआ, जिसे रोकना असम्भव था। वैसे इस भेंट का वर्णन मैं बाद में करूँगा।

कुछ समय पहले 'इण्डियन मिरर' में मैंने पढ़ा था कि एक परमहंस हैं, जो दक्षिणेश्वर में रहते हैं। केशव-चन्द्र सेन अपने शिष्यों के साथ उनके पास प्रायः जाया करते हैं। मैंने अपनी अल्प समझ से यह धारणा बना ली थी कि इन ब्राह्म लोगों ने, जिनकी अनेक विचित्र धारणाएँ हैं, एक नकली परमहंस खड़ा कर दिया है। वह असली नहीं हो सकता। कुछ दिन बीते थे कि मैंने सुना कि परमहंस मेरे पड़ोसी, कलकत्ता हाईकोर्ट के वकील

दीनानाथ बसु के यहाँ आएँगे। अपना कौतूहल मिटाने के लिए और यह देखने के लिए कि वे किस प्रकार के परमहंस हैं, मैं वहाँ गया। पर श्रद्धा की बजाय अश्रद्धा लेकर लौटा। जब मैं दीनानाथ बसु के यहाँ पहुँचा, मैंने पाया कि परमहंस आ गये हैं और केशव सेन तथा अन्य लोगों को उपदेश कर रहे हैं तथा वे लोग खूब एकाग्रचित्त हो सुन रहे हैं। सन्ध्या हो गयी थी। रोशनी जलाकर श्रीरामकृष्ण के सामने रख दी गयी थी। परन्तु वे बार बार पूछ रहे थे "क्या शाम हो गयी ?" इस पर मैंने मन ही मन सोचा, "क्या ढोंग है ! शाम हो गयी है। उनके सामने रोशनी जल रही है, फिर भी वे नहीं कह सक रहे हैं कि शाम हो गयी है।" यह सोचकर कि मैंने उनको काफी देख लिया, मैं लौट गया।

इसके बाद कुछ साल बीत गये। एक दिन श्रीरामकृष्ण रामकान्त बोस स्ट्रीट में बलराम बसु के यहाँ आनेवाले थे। परमभक्त बलराम ने ठाकुर के दर्शन के लिए अपने पड़ोस के बहुत से लोगों को आमंत्रित किया था। मुझे भी निमंत्रण मिला था। इसलिए मैं गया। वहाँ पहुँचने पर मैंने देखा कि श्रीरामकृष्ण पहले ही आ गये हैं और 'विधु' नाम की नर्तकी और गायिका (Dancing Girl) उनके पास उन्हें भजन सुनाने के लिए बैठी है। बलराम बसु के बैठकखाने में काफी लोग इकट्ठे थे। अचानक श्रीरामकृष्ण के व्यवहार को देखकर मुझे एक नया दृष्टि-कोण मिला। मैं सोचा करता था कि जो परमहंस या

योगी होते हैं, वे किसी से बात नहीं करते। पर ये तो सबको अत्यन्त विनम्रता के साथ भूमिष्ठ हो प्रणाम कर रहे थे। मेरा एक पुराना मित्र उनकी तरफ इशारा करके व्यंग्यपूर्वक बोला, "लगता है विधु से उनकी पुरानी जान-पहिचान है, इसीलिए वे उसके साथ इतना हँसकर बात कर रहे हैं।" परन्तु मुझे उसकी व्यंग्योक्ति अच्छी नहीं लगी। उसी समय 'अमृत बाजार पत्रिका' के सुप्रसिद्ध सम्पादक शिशिरकुमार घोष आ उपस्थित हुए। पर उनकी श्रीरामकृष्ण के प्रति बहुत कम श्रद्धा दिखी। वे मुझसे बोले, "चलो चलें, उनको काफी देख लिया!" मैं रुककर और कुछ देखना चाहता था, परन्तु जोर देकर वे मुझे अपने साथ खींच ले गये। यह मेरी दूसरी भेंट थी।

फिर कुछ दिन बीत गये। एक दिन स्टार थियेटर में मेरा नाटक 'चैतन्य-लीला' खेला जानेवाला था। मैं थियेटर के बाहरी प्रांगण में टहल रहा था, तब श्रीरामकृष्ण के एक भक्त, महेन्द्रलाल मुखर्जी, मेरे पास आये और बोले, "परमहंस नाटक देखने आये हैं। यदि आप उन्हें एक मुफ्त-पास दे देंगे, तो अच्छा होगा। अन्यथा हम लोग उनके लिए टिकट खरीद देंगे।"

मैंने उत्तर दिया, "उन्हें टिकट नहीं लेनी पड़ेगी; परन्तु और सबको लेनी पड़ेगी।" ऐसा कहकर मैं उनका स्वागत करने के लिए बढ़ा। मैंने देखा कि वे गाड़ी से उतरकर प्रांगण में प्रवेश कर रहे हैं। मैं उन्हें नमस्कार करना चाहता था। परन्तु इसके पहले कि मैं कर पाता,

उन्होंने मुझे नमस्कार किया। मैंने प्रति-नमस्कार किया। उन्होंने मुझे फिर से नमस्कार किया। मैंने सिर झुकाकर नमस्कार किया और उन्होंने भी वैसा ही किया। मैंने सोचा कि यह इसी प्रकार चलेगा, इसलिए मन ही मन अभिवादन कर उन्हें ऊपर ले जाकर बाक्स में एक सीट पर बैठा दिया। पंखा करने के लिए एक सेवक की व्यवस्था कर मैं अपने घर लौट गया, क्योंकि मैं अस्वस्थ अनुभव कर रहा था। यह मेरी तीसरी भेंट थी।

चौथी भेंट का वर्णन करने के पहले देश में उस समय व्याप्त धर्म की जो अवस्था थी, उसे बतलाना चाहूँगा। जब मैं स्कूल में पढ़ता था, उस समय 'यंग बेंगाल' नाम से जाने जानेवाले लोग समाज में प्रतिष्ठित और विद्वान् समझे जाते थे। वे पाश्चात्य शिक्षा में प्रथम शिक्षित लोग थ। उनमें से अधिकांश भौतिकवादी थे। कुछ ईसाई धर्म में धर्मान्तरित हो गये थे और कुछ लोगों ने ब्राह्मसमाज को स्वीकार कर लिया था। बहुत थोड़े ऐसे थे, जिनका हिन्दूधर्म में कुछ विश्वास था। सनातन हिन्दू-समाज साम्प्रदायिकता के कारण बुरी तरह बिखर गया था। शैव और वैष्णवों के बीच गहरा मतभेद था। इसके अलावा, वैष्णव धर्म स्वयं कई सम्प्रदायों में बँट गया था और हर सम्प्रदाय अपने को दूसरों से ऊँचा समझता था। सम्प्रदायों के बीच होड़ तेजी से बढ़ती जा रही थी। इसके साथ ही कई अन्य धर्म-सम्प्रदाय थे। हर धर्म दूसरे धर्म के लोगों की निन्दा करता और उन्हें

नरक के गहरे गर्त में जाने का अभिशाप देता। फिर अधिकांश ब्राह्मण-पुरोहित भ्रष्ट हो गये थे। वे स्वय के धर्म-शास्त्रों के बारे में तो पूरे कोरे थे ही, धार्मिक आचार-विचारों से भी अनभिज्ञ थे। इसके बावजूद वे पुरोहित और प्रचारक बने हुए थे। संक्षेप में कहें तो वे लोग पूरा पाखण्डमय जीवन जी रहे थे।

दूसरी तरफ, उस समय का युवावर्ग अँगरेजी के कुछ पन्ने पढ़कर भीतर में हृदय से मूर्तिपूजा का विरोधी बन गया था। भौतिकवादी, अपनी विद्वत्ता और पाडित्य के कारण, पृथ्वी पर सबसे अधिक प्रबुद्ध समझे जाते थे और उनके वचनों को सर्वोपरि प्रमाण माना जाता था। पाण्डित्य का चिह्न था किसी भगवान् में विश्वास न करना। इन सब परिस्थितियों के कारण पढ़े-लिखे युवकों की धर्म पर से सारी आस्था उठ गयी थी। परन्तु कभी कभी हम लोगों के बीच 'भगवान् है या नहीं' इस विषय पर चर्चा हो जाती। यदा-कदा मैं ब्राह्मसमाज की सभाओं में चला जाता, खासकर अपने घर के पासवाली में। पर किसी निर्णय पर मैं नहीं पहुँच सका था। भगवान् के अस्तित्व के विषय में मेरा संशय बना ही हुआ था। यदि भगवान् है, तो फिर कौनसा धर्म मानूँ? मैंने अनेक तर्क किये, अनेक विचार किये, परन्तु कोई उत्तर न मिला।

इससे मैं व्याकुल हो उठा। एक दिन प्रार्थना की, "हे प्रभो, यदि तुम हो तो मुझे राह दिखाओ।" परन्तु

मेरे भीतर अभिमान था, मैं सोचता था, "जब प्रकृति भौतिक जीवन की सब आवश्यकताएँ जैसे हवा, पानी, प्रकाश इत्यादि प्रचुरता से प्रदान कर रही है, जिससे मनुष्य सुखपूर्वक उनका भोग कर सके, तब क्या कारण हैं कि अनन्त जीवन के लिए आवश्यक धर्म उस प्रकार उपलब्ध नहीं है ? वह सब मिथ्या है, क्योंकि न तो वह स्वाभाविक है और न मेरी पहुँच के अन्दर। इसलिए भौतिकवाद ही सही है।" इस प्रकार दीर्घ चौदह वर्ष मैंने अवसाद के कुहासे में काटे।

फिर दुर्दिन आये और मेरा चैन से रहना कठिन हो गया। भीतर अँधेरा, बाहर अँधेरा--सर्वत्र अँधेरा ही अँधेरा था। मैंने सोचा, "क्या इस संकट से उबरने की कोई राह है ?" मैंने असाध्य बीमारी होने पर लोगों को तारकनाथ की शरण लेते देखा है। मेरी अवस्था बहुत शोचनीय थी। उस संकट से छूटना लगभग असम्भव था। तो क्या ऐसी संकटमय स्थिति में उन शरणागतवत्सल तारकनाथ शिव की प्रार्थना से मुझे कुछ राहत मिलेगी ? करके देखी जाय। मैंने आन्तरिकता के साथ अपने आपको ईश्वर की इच्छा में समर्पित कर दिया। मेरी प्रार्थना सफल हुई। संकट का यह जाल कटते फिर समय न लगा। मुझमें दृढ़ विश्वास जगा कि यह सच है कि भगवान् हैं।

आये संकट से तो उस समय बच गया, परन्तु क्या अन्तिम मुक्ति की भी वही राह थी ? प्रबल संघर्ष मेरे अन्तस को मथ रहा था तथा मैं किधर जाऊँ समझ नहीं

पा रहा था। तारकनाथ का प्रभाव मैंने देखा था। क्यों न उन्हीं को फिर से पुकारूँ? धीरे धीरे मेरे अन्दर भगवान् में विश्वास जागने लगा। परन्तु सभी कहते थे कि बिना गुरु के मुक्ति नहीं हो सकती। और साथ ही कहते कि गुरु को ईश्वर-जैसा देखना होगा। मेरी बुद्धि यह मानने को तैयार न थी। यह विचार ही मुझे परेशान कर डालता, क्योंकि मुझे लगता किसी मनुष्य को ईश्वर समझने से बड़ी और कोई ईश्वर-निन्दा नहीं हो सकती। मैं, इसलिए, अकेला ही बिना किसी मानव-गुरु के लड़खड़ाते चलूँगा। मैं तारकनाथ की आराधना करूँगा। वे ही मेरे गुरु हों। मैंने उन लोगों के सम्बन्ध में सुना था, जिन्हें स्वप्न में भगवान् ने दर्शन देकर मंत्र प्रदान किया था और उन्हें किसी मानव-गुरु के माध्यम की आवश्यकता न थी। यदि इसी प्रकार वे मुझ पर कृपा करें, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। नहीं तो मैं असहाय था। परन्तु मैंने तारकनाथ के दर्शन नहीं किये थे। तब क्या करता? सोचा सबेरे उनका नाम जपूँगा और देखूँ क्या होता है।

इसी समय एक चित्रकार से मेरा परिचय हुआ था। वह वैष्णव था। यह सच है या नहीं यह तो मैं नहीं जानता, परन्तु एक दिन वह मुझसे बोला, "मैं रोज भगवान् को भोग चढ़ाता हूँ और कुछ लक्षणों द्वारा मुझे यह विश्वास हो गया है कि वे उसे ग्रहण करते हैं। परन्तु ऐसा विरला अनुभव तभी मिल सकता है, जब किसी ने गुरु की कृपा प्राप्त की हो।" मैं अधीर हो उठा। उससे

विदा ले, अपने कमरे में आ, दरवाजा बन्द करके रो पड़ा।

सके तीन दिन बाद की बात है, मैं चौराहे पर स्थित अपने मित्र के यहाँ ड्योढ़ी में बैठा हुआ था कि मैंने श्रीरामकृष्ण को धीरे धीरे आते हुए देखा, नारायण आदि भक्त साथ में थे। ज्योंही मेरी नजर उन पर पड़ी, उन्होंने नमस्कार किया। मैंने भी उनके नमस्कार का उत्तर दिया। वे उसके बाद चले गये। जाने क्यों मेरा हृदय किसी अदृष्ट डोर से मानो बँधा हुआ उनकी ओर खिंचा जा रहा था। कुछ ही दूर वे गये होंगे कि मेरी उनके साथ साथ जाने की इच्छा होने लगी। मैं बेचैन हो उठा। वह कुछ ऐसा अलौकिक खिंचाव था कि मैं एकदम बेबस था। उसके अनोखेपन को शब्दों में बताना मुश्किल है। उसी समय एक सज्जन, जिनका नाम मुझे याद नहीं है, उनका सन्देशा लेकर आये और बोले, "श्रीरामकृष्ण आपको याद कर रहे हैं।" मैं गया।

श्रीरामकृष्ण बलराम के यहाँ जा रहे थे, मैं भी साथ साथ वहाँ पहुँचा। बलराम कोच पर लेटे हुए थे, शायद अस्वस्थ थे। श्रीरामकृष्ण को देखते ही वे जल्दी से उठ गये और अत्यन्त श्रद्धा के साथ श्रीरामकृष्ण को भूमिष्ठ हो प्रणाम किया। कुछ देर बलराम से बातें करने के बाद ही सहसा श्रीरामकृष्ण बोल उठे, "मैं अच्छा हूँ, मैं अच्छा हूँ।" उन्हें ऐसा कहते कहते भाव-समाधि हो गयी। मुझे वह सब बहुत अद्भुत लगा। फिर वे कह उठे, "नहीं, नहीं, यह ढोंग नहीं है, यह ढोंग नहीं है।"

कुछ समय उस भाव में रहने के बाद वे सहजावस्था में लौट आये। तब मैंने पूछा, "गुरु कौन है ?" उन्होंने उत्तर दिया, "जानते हो गुरु कौन है ! वह है ब्याह तै करानेवाला जैसा। जिस प्रकार वह वर और वधू के मिलन का संयोग जुटाता है, उसी प्रकार गुरु जीवात्मा का उसके प्रियतम परमात्मा से मिलन करवाता है।" यह सब उन्होंने बोलचाल की भाषा में कहा, जिसका मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। फिर वे बोले, "तुम चिन्ता न करो। तुम्हारा गुरु चुना हुआ है।" मैंने जिज्ञासा की, "मंत्र क्या है ?" उनका उत्तर था, "भगवान् का नाम।" और मुझे समझने के लिए नीचे लिखी कहानी बतलायी।

"रामानन्द रोज सबेरे गंगास्नान करने जाते थे। घाट की एक सीढ़ी पर कबीर नाम का जुलाहा लेटा था। नीचे उतरते समय रामानन्द का पैर उसकी देह से छू गया। उनके मुख से 'राम' शब्द निकला, क्योंकि वे सब कुछ भगवानमय देखते थे। सन्त के मुख से निकला वचन था, इसलिए कबीर ने उसे ही अपना गुरु मत्र मान लिया तथा अन्त में उसी का जप करते करते भगवान्-लाभ किया।"

फिर चर्चा चलते चलते थियेटर पर आ गयी, वे बोले, "मुझे तुम्हारा नाटक बहुत अच्छा लगा। ज्ञान-सूर्य तुम्हारे ऊपर प्रकाशित होने लगा है। तुम्हारे भीतर की सब कल्मषता मिट जायगी। जल्दी ही तुम्हारे भीतर भक्ति का उदय होगा और उससे तुम्हारा जीवन आनन्द और मधुरता से भर जायगा।" मैंने कहा, "मुझमें तो ये

सब गुण नहीं हैं। नाटक तो मैंने अर्थोपार्जन के लिए लिखा है।" वे कुछ समय चुप रहने के बाद बोले, "क्या तुम अपने थियेटर में ले जाकर मुझे अपना कोई दूसरा नाटक दिखा सकते हो ?" मैंने उत्तर दिया, "हाँ, हाँ, क्यों नहीं ? जिस दिन आप चाहें।" वे बोले, "तुम्हें मुझसे कुछ वसूल करना पड़ेगा।" मैंने कहा, "ठीक है, आप आठ आने दे दीजिएगा।" श्रीरामकृष्ण बोले, "तब तो मुझे बालकनी में बिठाओगे, वहाँ बहुत हल्ला होता है।" मैंने उत्तर दिया, "न, न, आपको वहाँ नहीं बैठना होगा, आप वहीं बैठिएगा, जहाँ पिछली बार बैठे थे।" वे बोले, "तब तुम एक रुपया लेना।" मैंने कहा, "ठीक है, जैसी आपकी इच्छा।" हमारी बातें समाप्त हुईं।

इसके बाद मैं और हरिपद श्रीरामकृष्ण को प्रणाम कर बलराम के घर से बाहर आये। रास्ते में हरिपद ने मुझसे पूछा, "इनके बारे में क्या सोचते हो ?" मैंने उत्तर दिया, "एक महान् भक्त।" मेरा हृदय एक अकथनीय आनन्द से भर गया था और मुझे लग रहा था कि मेरा गुरु खोजने का काम मानो पूरा हो गया है। क्या श्रीरामकृष्ण ने नहीं कहा था कि मेरा गुरु चुन लिया गया है ?

गुरु के सम्बन्ध में मेरी जो पहले की आपत्तियाँ थीं, उन पर फिर से विचार करने से मुझे उन तर्कों के पीछे छिपा अपना मिथ्या अभिमान और दम्भ समझ में आ गया। मैं सोचता था, "कुछ भी हो गुरु आखिर मनुष्य है। शिष्य भी मनुष्य है। फिर क्यों एक मनुष्य दूसरे के

सामने हाथ जोड़कर खड़ा रहे और सेवक की तरह उसका अनुगमन करे ?" परन्तु श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में मेरा यह अभिमान बार बार चूर चूर होने लगा। थियेटर में मिलने पर वे ही पहले मुझे नमस्कार करते। ऐसे विनयी व्यक्ति के सामने मेरा अभिमान कैसे टिक सकता था ? उनकी विनम्रता ने मेरे हृदय पर अमिट प्रभाव डाल दिया।

बलराम के घर में उनसे भेंट होने के कुछ दिन बाद की बात है, मैं थियेटर में शृंगारकक्ष में बैठा था, ऐसे समय उनके एक भक्त जल्दी जल्दी मेरे पास आये और चिन्ता के साथ कहने लगे, "श्रीरामकृष्ण वहाँ गाड़ी में बैठे हैं।" मैंने कहा, "ठीक है, उनको ले जाकर बाक्स की एक सीट में बिठा दो।" पर वे बोले, "क्या आप स्वयं उनका स्वागत नहीं करेंगे और उनको अपने साथ वहाँ नहीं ले जाएँगे ?" कुछ चिढ़कर मैंने कहा, "क्या उनको मेरी जरूरत है ? क्या वे स्वयं नहीं आ सकते ?" फिर भी मैं गया। वहाँ उन्हें मैंने गाड़ी से उतरते देखा। उनके मुखमण्डल की सौम्यता और तेजस्विता देख मेरा पत्थर-हृदय भी पिघल गया। लज्जित हो मैंने अपने आप को धिक्कारा। उस आत्मग्लानि की याद अभी भी बनी हुई है कि ऐसे मृदु और शान्त स्वभाववाले महापुरुष का स्वागत करने से मैंने इनकार कर दिया था। उन्हें मैं फिर ऊपर ले गया। वहाँ मैंने उनके चरण छूकर प्रणाम किया। उसका कारण अभी भी मेरी समझ में नहीं आता, परन्तु उस समय मैं एक दूसरा ही व्यक्ति बन गया था,

मेरे अन्दर एक आमूल परिवर्तन हो गया था। मैंने एक गुलाब का फूल भेंट किया। उन्होंने वह स्वीकार किया। परन्तु फिर लौटा दिया और कहा, "किसी देवता पर या किसी रसिक व्यक्ति के पास ही यह ठीक है। मैं भला इसका क्या करूँगा?"

स्टार थियेटर की दूसरी मंजिल पर, सहगान के समय, विशिष्ट अतिथियों के बैठने की गैलरी थी। श्रीरामकृष्ण उसमें आये। साथ में अनेक भक्त थे। वे मेरे साथ बातें करने लगे। अनेक बातें उन्होंने कहीं। मैं बड़ी उत्सुकता के साथ उनको सुन रहा था। मुझे लग रहा था मानो मेरे शरीर में ऊपर से लेकर नीचे तक और नीचे से ऊपर तक एक आध्यात्मिक लहर दौड़ रही है। हठात् श्रीरामकृष्ण बाह्यज्ञानशून्य हो भाव-समाधि में मग्न हो गये। उस भाव में डूबे हुए वे एक बालकभक्त के साथ खेल रहे थे। अनेक वर्ष पहले एक बहुत ही दुष्ट व्यक्ति द्वारा मैंने उनके सम्बन्ध में मिथ्या निन्दा सुनी थी। सहसा वह मुझे याद हो आयी और उसी क्षण श्रीरामकृष्ण की समाधि भंग हुई। मेरी ओर देखकर वे बोले, "तुम्हारे हृदय में कुछ कुटिलता है।" मैंने सोचा, "हाँ, सच है। बहुत सारी हैं--अनेक प्रकार की हैं।" परन्तु मैं समझ नहीं पा रहा था किस विशिष्ट कुटिलता के सम्बन्ध में वे इंगित कर रहे हैं। मैंने प्रश्न किया, "कैसे उनसे मुक्ति पाऊँगा?" श्रीरामकृष्ण का उत्तर था, "विश्वास बनाये रखो।"

समय बीतता गया। एक दिन दोपहर के तीन बजे

मैं थियेटर गया तो वहाँ एक कागज मेरी मेज पर रखा मिला, जिसमें लिखा था कि श्रीरामकृष्ण कलकत्ते में मधु राय लेन के रामचन्द्र दत्त के यहाँ आनेवाले हैं। वह पढ़ते ही उनके पास जाने के लिए मैं उसी प्रकार आकुल हो उठा, जैसा कि चौराहे पर अपने मित्र की ड्योढ़ी में बैठे समय हुआ था। जाने की उत्सुकता तो थी, पर यह भी सोचता था, "क्या अपरिचित के यहाँ बिना निमंत्रण के जाना ठीक है ?" परन्तु उस अदृष्ट डोर का खिंचाव प्रबल था। रवाना होना ही पड़ा। अनाथ बाबू के बाजार तक जाकर रुक गया और विचार करने लगा, "नहीं, इस प्रकार जाना उचित नहीं।" परन्तु मैं तो असहाय हो खिंचा चला जा रहा था। कुछ दूर जाता और फिर विचार करने लगता। रामचन्द्र के घर के करीब पहुँचकर भी संकोच बना हुआ था। अन्त में दरवाजे तक पहुँच गया। रामचन्द्र वहाँ बैठे हुए थे, वे मुझे अन्दर ले गये। शाम का समय था। अन्दर आँगन में श्रीरामकृष्ण भाव-मग्न हो नृत्य कर रहे थे। मृदंग के साथ गाना हो रहा था। भक्त लोग श्रीरामकृष्ण को घेरकर नृत्य कर रहे थे। गाने का भाव था—"गौरांग के हृदय से निकली दिव्य प्रेम की धारा से सम्पूर्ण नदिया प्लावित हो गया है।" आँगन में आनन्द का सागर उमड़ आया था। मेरी आँखों में आनन्दाश्रु भर आये। हठात् श्रीरामकृष्ण की देह स्थिर हो गयी। उन्हें समाधि लग गयी थी। सभी भक्त उनकी चरणधूलि लेने लगे। मुझे भी इच्छा हुई,

पर संकोचवश न ले सका। सोचता था मेरे ऐसा करने से लोग क्या सोचेंगे। मेरे ऐसा सोचते ही श्रीरामकृष्ण सहजावस्था में आ फिर नृत्य करने लगे। नृत्य करते करते वे मेरे सामने आ गये और उन्हें फिर समाधि लग गयी तथा वे स्थिर खड़े हो गये। अब मेरे भीतर की झिझक मिट गयी। मैंने झुककर उनके चरणों की धूलि अपने माथे पर लगायी।

गाना शेष होने पर श्रीरामकृष्ण जाकर बैठक में बैठ गये। मैं भी उनके पीछे गया। वे मुझसे बातें करने लगे। मैंने प्रश्न किया, "क्या मेरे हृदय की कुटिलता जाएगी ?" उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ, वह चली जाएगी।" मैंने फिर से पूछा और उन्होंने वही उत्तर दिया। एक बार फिर मैंने अपना प्रश्न दुहराया और उन्होने भी वही उत्तर फिर दिया। तब उनके एक परम भक्त, मनमोहन मित्र ने थोड़ा चिढ़कर मुझसे कहा, "बस, बस, उन्होंने उत्तर तो दे ही दिया है। फिर क्यों बार बार आप उन्हें तंग कर रहे हैं ?" मेरी इच्छा हुई कि उलटकर तीखा जवाब दे दूँ, क्योंकि मुझे टोकने पर कोई मुझसे गाली खाये बिना नहीं बचता था। पर मंने अपने को सम्हाला और सोचा, "मनमोहन ठीक ही तो कह रहे हैं। जो एक बार में विश्वास नहीं करता, वह सौ बार सुनने पर भी न करेगा।" मैंने श्रींरामकृष्ण को झुककर प्रणाम किया और फिर थियेटर लौट गया।

एक रात, शराब पीकर मस्त हो, अपने दो दोस्तों

के साथ मैं एक तवायफ के यहाँ जा रहा था। अचानक श्रीरामकृष्ण के पास जाने का मन हो आया। दोस्तों के साथ मिलकर मैंने एक किराये की गाड़ी की और दक्षिणेश्वर पहुँच गये। रात काफी बीत चुकी थी, सब सो गये थे। हम तीनों झूमते-झामते श्रीरामकृष्ण के कमरे में घुसे। श्रीरामकृष्ण भावमग्न हो मेरे दोनों हाथों को पकड़कर नाचने और गाने लगे। मेरे मन में यह विचार कौंध उठा, "यहाँ यह महापुरुष है, जिसका प्रेम सबको अपना लेता है—यहाँ तक कि मुझ-जैसे अधम को भी, जिसे इस दशा में उसके घर के लोग भी ठुकरा देंगे! धर्मपरायण लोगों द्वारा पूजित यह सन्त निश्चय ही पतितों का भी उद्धारक है।"

श्रीरामकृष्ण से इतनी भेंटों के बाद मैं आश्चर्यचकित होने लगा--"ये महापुरुष कौन हैं, जो मुझसे इतनी घनिष्ठता के साथ बातें करते हैं कि मुझे लगने लगता है कि वे मेरे अपने ही हैं? अब मुझे अपने पापों का भय नहीं लगता, क्योंकि मुझे विश्वास है कि वे मुझे नहीं ठुकराएँगे। यद्यपि लगता है कि वे मेरे भीतर-बाहर का सब जानते हैं, फिर भी उनके पास अपने सब पापों को स्वीकार करने से मेरा भला ही होगा। एकमात्र वे ही मुझे शान्ति प्रदान कर सकते हैं, इसलिए उन्हीं के चरणों में मैं आश्रय ले लूँ।"

और मैं दक्षिणेश्वर गया। श्रीरामकृष्ण को मैंने उनके कमरे के बाहर दक्षिणी ड्योढ़ी में बैठे पाया। वे

युवक-भक्त भवनाथ के साथ बातें कर रहे थे। मैं उनके चरणों में पड़ गया और मन ही मन प्रार्थना करने लगा, "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः"। वे कहने लगे, "मैं अभी तुम्हारी ही चर्चा कर रहा था। विश्वास न हो तो इससे (भवनाथ से) पूछ लो।"

कुछ देर बाद उन्होंने मुझे कुछ उपदेश देना शुरू किया। मैंने उन्हें रोक दिया और कहा, "मैं कोई उपदेश नहीं सुनूँगा। मैंने स्वयं ढेर सारे उपदेश लिखे हैं। उनसे कुछ सहायता नहीं मिलती। कुछ ऐसा कीजिए, जिससे मेरा जीवन बदल जाय।" यह सुन श्रीरामकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए। उनका भतीजा रामलाल भी वहाँ उपस्थित था। उससे उन्होंने एक खास श्लोक दुहराने के लिए कहा, जिसका भाव था---"भले ही अपने को एकान्त गुफा में बन्द कर लो, पर वहाँ शान्ति नहीं है। शान्ति तो वहीं पर है, जहाँ विश्वास है, क्योंकि विश्वास ही सबका मूल है।" श्रीरामकृष्ण के अधरों पर मंने एक मधुर मुसकान देखी और मुझे लगा कि मै सब पापों से मुक्त हो गया हूँ और उसी समय मेरा अभिमानी मस्तक उनके चरणों में झुक गया। वहाँ मुझे शरण मिली और मेरा सब भय दूर हो गया। उन्हें भूमिष्ठ हो प्रणाम कर मैं लौटने को उद्यत हुआ। मेरे साथ वे उत्तर ड्योढ़ी तक आये। मैंने उनसे तब पूछा, "चूँकि अब मुझे आपकी कृपा प्राप्त हो गयी है, तो क्या अब भी वही करूँ जो अब तक करता आया हूँ ?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "हाँ,

क्यों नहीं ?" उनके कथन से मैं समझ गया कि थियेटर से मेरा सम्बन्ध मेरे आध्यात्मिक जीवन में बाधक न होगा ।

मेरा हृदय आनन्द से भर गया । मुझे लग रहा था मानो मेरा नया जन्म हुआ है । मैं अब पूरी तरह बदला हुआ मनुष्य था । मेरे मन में अब किसी प्रकार का संशय या द्वन्द्व न था । "भगवान् हैं । भगवान् मेरे आश्रयदाता हैं । मैंने इन देवतुल्य महापुरुष की शरण पायी है ।" इस प्रकार के विचार रात-दिन मेरे मन में घूमते रहते । सोते-जागते यही भाव बना रहता--"मुझे क्या भय है ? मैंने उन्हें पा लिया है, जो मेरे अपने हैं । सबसे बड़ा भय--मृत्यु-भय चला गया है, इसलिए अब यह संसार मुझे और नहीं बाँध सकता ।" बीच बीच में किसी किसी भक्त से सुनता कि ठाकुर मेरे सम्बन्ध में बड़े स्नेह से बोल रहे थे । यदि कभी कोई मेरी निन्दा करता, तो श्रीरामकृष्ण बोल उठते, "यह सही नहीं है । तुम जानते नहीं, उसका कितना अटूट विश्वास है ।"

श्रीरामकृष्ण यदा-कदा मुझसे मिलने थियटर चले आते और साथ में मेरे लिए दक्षिणेश्वर से मिठाई लाते । स्वयं पहले थोड़ासा चखकर फिर मुझे खाने देते । मेरे भीतर तत्क्षण एक परिवर्तन आ जाता और मुझे भान होता कि मैं छोटासा शिशु हूँ और अपनी स्नेहमयी माँ द्वारा खिलाया जा रहा हूँ ।

एक दिन जिस समय मैं दक्षिणेश्वर पहुँचा, उस समय श्रीरामकृष्ण दोपहर का भोजन प्रायः समाप्त कर

चुके थे। उन्होंने मुझे अपने पास की खीर खाने को दी। परन्तु ज्योंही मैं खाने को था वे बोल उठे, "ठहरो, मैं स्वयं अपने हाथ से तुम्हें खिलाऊँगा।" अपने हाथ से वे मुझे खीर खिलाने लगे और मैं भी छोटे शिशु के समान क्षुधित और आत्मविस्मृत हो उनकी अँगुलियाँ चाट-चाटकर खाने लगा। उस समय मैं भूल गया कि मैं छोटा शिशु नहीं हूँ। मुझे तो यही लग रहा था कि मैं माँ का नन्हा शिशु हूँ और माँ मुझे खिला रही है। परन्तु अब जब कभी मैं सोचता हूँ कि कैसे श्रीरामकृष्ण ने अपने पवित्र हाथों से मुझे खिलाया था और मेरे इन होठों को, जिन्होंने जाने कितने अपवित्र होठों का स्पर्श किया होगा, उनकी पवित्र अँगुलियों का स्पर्श मिला था, तो मेरा हृदय आवेग से भर आता है और मैं स्वय से पूछने लगता हूँ, "क्या वास्तव में ऐसा हुआ था ? या वह एक स्वप्नमात्र था ?" एक भक्त के मुख से मैंने सुना है कि श्रीरामकृष्ण ने एक शिशु के रूप में मुझे एक दर्शन में देखा था। और वास्तव में जब भी मैं उनके पास होता, मुझे लगता कि मैं एक छोटासा शिशु हूँ।

यद्यपि मुझे यह विश्वास हो गया था कि श्रीरामकृष्ण मेरे अपने हैं, फिर भी पुराने सस्कारों का प्रभाव इतनी जल्दी मिटनेवाला न था। एक दिन शराब के नशे में मैं उनको बहुत अश्लील भाषा में गालियाँ देने लगा। उनके सब भक्त क्रुद्ध हो मुझे सजा देने के लिए उद्यत हो उठे। पर ठाकुर ने उन्हें रोक दिया। मेरे मुख से गालियों

की बौछार निकलती ही रहीं, किन्तु श्रीरामकृष्ण शान्त बने रहे और कुछ समय पश्चात् दक्षिणेश्वर लौट गये। एक बिगड़ा हुआ लड़का जिस प्रकार बिना किसी सोच-विचार के अपने बाप से गाली-गलौज करता है, उसी प्रकार मेरा व्यवहार उनके साथ हुआ था। शीघ्र ही मेरा वह व्यवहार साधारण चर्चा का विषय बन गया और मुझे भी अपनी भूल समझ में आने लगी। परन्तु फिर भी मुझे उनके प्रेम पर इतना अधिक विश्वास था, उनके असीमित प्रेम पर इतना भरोसा था कि मुझे जरा भी यह डर न लगा कि वे मुझे त्याग देंगे।

प्रायः सब भक्त आश्चर्य करते कि ठाकुर क्यों मेरी सब दुष्टता को सहन करते हैं। उन लोगों ने उन्हें सलाह भी दी कि वे मेरे साथ सारे सम्बन्ध तोड़ लें। अकेले रामचन्द्र दत्त ने मेरा पक्ष लेकर उनसे कहा, "महाराज, उसने गालियों से आपकी पूजा ही तो की है, उसका तो वैसा स्वभाव ही है। कालिय नाग ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा था, 'प्रभो, आपने जब मुझे विष ही दिया है, तब कहाँ से मैं अमृत दूँगा' ?" श्रीरामकृष्ण बोल उठे, "जरा सुनो तो राम क्या कह रहा है ?" फिर भी लोग मेरी निन्दा करते रहे, तब श्रीरामकृष्ण एकदम कह उठे, "एक गाड़ी ला दो, मैं गिरीश के पास अभी जाऊँगा।" और मेरे परम आत्मीय आध्यात्मिक गुरु मेरे यहाँ आये और दर्शन देकर मुझे कृतार्थ कर दिया।

जैसे जैसे दिन बीतते गये, ऐसे प्रेमस्वरूप सरल

स्वभाववाले सन्त महापुरुष के साथ किये गये दुर्व्यवहार को सोचकर मेरे अन्दर अधिकाधिक ग्लानि होने लगी। जब दूसरे भक्तों को बड़ी भक्ति के साथ उनकी पूजा करते देखता, तब और अधिक आत्मग्लानि होने लगती। कुछ दिन बीते होंगे कि एक दिन श्रीरामकृष्ण मेरी ऐसी अवसादभरी अवस्था देख भावावस्था में कहने लगे, "गिरीश घोष, तुम चिन्ता न करो। एक दिन लोग तुम्हारा परिवर्तन देख आश्चर्यचकित हो जाएँगे।"

बचपन से ही मेरा स्वभाव ऐसा था कि मैं वही करता, जिसे करने के लिए मुझे मना किया जाता। परन्तु श्रीरामकृष्ण तो अद्भुत गुरु थे। एक बार भी उन्होंने किसी बात के लिए मुझे मना नहीं किया और उनके इस व्यवहार ने मेरे जीवन में जादू-जैसा काम किया। जब कभी कोई काम-सम्बन्धी वासना मेरे भीतर उठती, वह तत्क्षण शान्त हो ठण्डी हो जाती और मेरा सिर शिव-शक्ति के सामने झुक जाता तथा अपने भीतर मुझे श्रीरामकृष्ण दिखायी पड़ते। संसारी लोगों के अश्लील शब्द और कर्म के पीछे भी मुझे भगवान् की नित्यलीला दिखायी पड़ती। फिर मुझे कभी कभी झूठ बोलने की भी आदत थी। यद्यपि श्रीरामकृष्ण सत्य के सम्बन्ध में बहुत पक्के थे--यहाँ तक कि किसी को हँसी में भी झूठ बोलने से मना करते-- परन्तु जब मैं अपनी कमजोरी स्वीकार करने गया, तो वे बोले, "तुम चिन्ता न करो। मेरे समान तुम भी सच और झूठ से परे हो।"

फलतः बाद में जब कभी झूठ बोलने का विचार भी मन में उठता, तो श्रीरामकृष्ण मेरे मानसचक्षु के सामने आ जाते और मेरे मुख से झूठ न निकलता ।

श्रीरामकृष्ण मेरे हृदय पर पूरी तरह छा गये थे और उन्होंने उसे अपने प्रेम से बाँध लिया था । पर उस प्रेम की तुलना किसी पार्थिव प्रेम से नहीं की जा सकती। यदि मुझमें कुछ भी अच्छा गुण है, तो वह मेरे अपने कारण नहीं वरन् पूरी तरह से उन्हीं की कृपा का फल है । यह अक्षरशः सत्य है कि उन्होंने मेरे पापों को ले मुझे मुक्त कर दिया । जब भी कोई भक्त पाप या पाप सम्बन्धी चर्चा करता, वे उसे डाँटते और कहते, "वह सब बन्द करो । पाप की चर्चा क्यों ? जानते हो, जो 'पापी हूँ' 'पापी हूँ' कहता रहता है, वह सचमुच पापी हो जाता है और जो 'मुक्त हूँ' 'मुक्त हूँ' सोचता है, वह मुक्त हो जाता है। इसलिए हमेशा इस प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण रखो कि तुम मुक्त हो और कोई पाप तुम्हें छू नहीं सकता ।"

'गुरु' शब्द का अर्थ धीरे धीरे मेरे सामने स्पष्ट होने लगा । वैसे वह काफी मन्थर गति से हो रहा था, परन्तु उसका प्रभाव बहुत गहरा था । अब मेरी समझ में आ गया था कि गुरु ही सब कुछ हैं । वे मेरे सब कुछ हैं । उनके द्वारा मेरा जीवन कृतार्थ हो गया है । यद्यपि मैंने अपने आत्म-ज्योति जगानेवाले के प्रति बहुत कम श्रद्धा अर्पित की, शराब के नशे में गालियाँ दीं, सेवा का अवसर आने पर अवहेलना भी कर दी, फिर भी मुझे कोई रंज

नहीं है। संयम से दूर भागने की चेष्टा में ही अनजाने मैंने पाया कि मैं संयमित हो गया हूँ। ऐसी है मेरे गुरु की कृपा, उनकी अनन्त करुणा, जो बिना पाप-पुण्य तौले सन्त और पापी सब पर समान रूप से पड़ रही है। मुझे कोई भय नहीं है, क्योंकि मुझे उस कल्पनातीत प्रेम में सुरक्षित आश्रय मिला है। जय श्रीरामकृष्ण !

०

# स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में (६)

"एक भक्त"

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यों में सबसे छोटे थे और भक्तों में 'बाबा' के नाम से परिचित थे। उनके संस्मरणों और उपदेशों के लेखक 'एक भक्त' उन्हीं के एक शिष्य हैं और रामकृष्ण संघ के सन्यासी हैं। ये संस्मरण बँगला में 'स्वामी अखण्डानन्देर स्मृतिसंचय' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहीत हुआ है। --स०)

एक दिन बात ही बात में बाबा ने अपने साधन-भजन तथा जीवन के सम्बन्ध में बहुतसी बातें बतायीं-- "बचपन में शिवपूजा किया करता, रोज शिव गढ़ता, फूल, बेलपत्ते और गंगाजल से पूजा करता, सजाता, स्तवादि पढ़ता। गंगास्नान करते समय प्राणायाम का कुम्भक लगाता, पानी के भीतर कोई ढेला या पत्थर ले डूबा रहता। . . . फिर ठाकुर से भेंट हुई। उन्होंने कह दिया, 'इतना सब करने की जरूरत नहीं, वह सब इस काल के लिए नहीं है। भक्ति-विश्वास होने से ही हो गया।' ठाकुर के देहावसान के बाद वराहनगर मठ में रहते समय सभी को तीव्र वैराग्य था, सभी ठाकुर के दर्शन के लिए व्याकुल थे। सन्ध्या समय गंगा के किनारे, उसके बाद श्मशान में सारी रात जप-ध्यान चला करता। जब सुबह का पक्षी चिल्लाने लगता, तब गंगा में डुबकी लगाकर मठ लौटना होता। किसी दिन मठ में ही यह सब होता--कुर्सी में या चटाई पर बैठकर ठाकुर का प्रसंग छेड़ते छेड़ते ध्यान लग जाता। जो जिस अवस्था

में रहता, उसी अवस्था में ध्यान में डूब जाता।

"ऋषीकेश में क्षेत्र की घण्टी बजती, उठने की इच्छा न होती। बाद में मैं माई के पास जाकर चुप खड़ा हो जाता। वह कहती, 'बच्चा, इतनी देर क्यों की--घण्टी नहीं सुनी ?' 'माई, ध्यान लग गया। नहीं उठा।' 'अब तो कुछ नहीं है। जरा सब्र करो, बेटा, पकाकर भेज दूँगी।' इसी प्रकार दे जाती। बाद में मेरे लिए दो रोटी रख देती।

"बचपन में शिवलिंग गढ़कर पूजा की है, बाद में हिमालय में जीवन्त शिव के दर्शन किये हैं--ठाकुर ही सबके भीतर चल-फिर रहे हैं--नारायण। ठाकुर के भीतर ही यह सेवाधर्म का बीज था--वही अब चारों ओर पल्लवित हो रहा है। देवघर में वे मथुरबाबू से बोले, 'इन्हें भोजन दो, कपड़ा दो, सिर पर लगाने के लिए तेल दो, नहीं तो तुम काशी जाने से रहे। मैं यहाँ से नहीं उठूँगा।' तभी तो सेवाधर्म का यह चक्र घूमा। इसीलिए हरदम कहता रहता हूँ--काम करो, काम करो। Something positive, जिसका फल हाथोंहाथ मिले। जप-ध्यान क्या करोगे ? कितना करोगे ? वह तो हम जानते हैं।

"स्वामीजी (विवेकानन्दजी) और मैं दोनों हिमालय की ओर जा रहे थे। एक जगह देखा एक साधू ध्यान करने बैठा है--सिर तक कपड़े से ढाँककर, और जोरों से खर्राटे भर रहा है। स्वामीजी चिल्ला उठे--बेटा तो बैठे बैठे मजे से सो रहा है, दे बेटे के कन्धे में हल बाँध--तब कहीं उसका कुछ हो तो हो।'

"और एक समय की बात है। राजपूताने में एक आलसी, idiot (बुद्धिहीन) के समान लड़के को उसके घर के लोग स्वामीजी के पास ले आये। वे लोग समझते थे कि लड़का धर्म के मामले में बहुत आगे बढ़ गया है, इसलिए ऐसा हो रहा है। जो हो, स्वामीजी एक पहुँचे हुए महात्मा हैं, वे क्या कहते हैं सुनें—लड़का कहाँ तक पहुँचा है, धर्म की किस अवस्था में है ! स्वामीजी ने खुले शब्दों में कह दिया, 'ले जाओ उसे, ले जाओ, मदिरालय और उससे जुड़ी जगह में ले जाओ, उससे कहीं उसकी बुद्धि लौटे तो लौटे। वहाँ एक action (क्रिया) होगी, उसकी reaction (प्रतिक्रिया) में सम्भव है वह जाग जाए।' ऐसी थी उसकी अवस्था।

"यह सब देखकर ही वे कहते थे, 'सत्त्व की आड़ में देश तम के सागर में डूब चला है।' फिर कहते, 'इससे इसे बचाने के लिए सिर से पैर तक नस नस में बिजली तड़पानेवाला तीव्र रजोगुण चाहिए।' तभी तो कर्म पर इतना बल दिया। जो होने का हो, हो; कर्म किये जाओ--तब कहीं कुछ होगा, अवश्य होगा। न साहस है, न शक्ति, न विश्वास--सब समय डर कि कहीं न कर सका तो। इसी कारण तो पीछे हो जाते हो। आये न असफलता, लोग कहें न खराब; तुम तो साहस, विश्वास और समर्पण के साथ प्रभु का नाम लेकर काम किये जाओ।

"हिमालय के शिखर पर शिखर लाँघे हैं। एक शिखर पार करने पर देखता हूँ--और एक शिखर आँखों

के सामने खड़ा है। थोड़ा विश्राम करने के बाद ही विचार उठता कि अब कब उसे भी पार कर लूँ। फिर प्रयत्न---फिर चलना। सत्य कहता हूँ, तुममें से अधिकांश लोग कर्म के अधिकारी हो---कर्म करो, कर्म करो, जब तक थक न जाओ। पर हाँ, यह भाव सब समय मन में रखना कि भगवान् का, ठाकुर का काम कर रहा हूँ। नहीं तो मुश्किल है।

"उद्‌बोधन का सत्येन (स्वामी आत्मबोधानन्द) तब कालेज स्ट्रीट में अद्वैत आश्रम की पुस्तकें बेचा करता। लगभग दस बजे थोड़ा भात खाकर निकल पड़ता और सारा दिन दुकान में रहता। मन में उसे बड़ी पीड़ा होती---'यह क्या कर रहा हूँ।' एक दिन दुकान के सामने खड़े हो उसे ऐसा लेक्चर दिया कि अब भी कहता है---'महाराज, उस दिन जो inspiration (उत्साह) मिला, उसके बल पर अभी भी चल रहा हूं।' मैंने कहा था--- 'यह क्या तुम कोई सरल काम कर रहे हो ? इसके भीतर कितना त्याग, कितनी तपस्या, कितनी सेवा भरी है ! यही तो ठीक ठीक साधना है। सुबह मामूली थोड़ा खाकर आ गये, बाकी लोग तो जाने कितना क्या क्या खाते हैं---यह क्या कम त्याग है ! फिर यह छोटासा कमरा---सारा दिन एक जगह स्थिर होकर बैठे रहना या बैठ सकना---यह क्या कम तपस्या है ! फिर इन किताबों से ठाकुर-स्वामीजी की भावधारा का कितने लोगों में प्रचार हो रहा है--- तुम्हारे हाथ से ही तो यह सब हो रहा है। यह क्या कम

ठाकुर-सेवा है ? पूजाघर का काम ही क्या ठाकुर-सेवा है ?'

"तुम लोगों से भी कहता हूँ, यह भाव मन में ले आओ--'जो करता हूँ, वही साधना है। जिसे मैं साधना नहीं समझ सकूँगा, वह नहीं करूँगा। खा रहा हूँ—उन्हें आहुति दे रहा हूँ; घूम रहा हूँ या शहर देख रहा हूँ—उनकी प्रदक्षिणा कर रहा हूँ; यहाँ तक कि लेटा हूँ, सो रहा हूँ, वह भी मानो उन्हें प्रणाम कर रहा हूँ--उनका ध्यान कर रहा हूँ।' सब समय उनके भाव में डूबे रहना। एक गीत में यह भाव है--

लेटे सोचो करूँ प्रणाम, सोये में हो माँ का ध्यान।
खाते सोचो श्यामा माँ को देता मैं आहुति का दान ।।"

सन्ध्या समय स्वामी अखण्डानन्द महाराज एक कैम्प-खाट पर बैठे हुए हैं। दो-एक जन उपस्थित हैं। बाबा कह रहे हैं--

"ज्यादा सोना नहीं। योगी की नींद ४ घण्टे, भोगी की नींद ६ घण्टे। उस दिन 'उद्बोधन' (बँगला मासिक) में महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) की बात पढ़ बड़ा आनन्द हुआ। वे कहते हैं--'४ घण्टे से अधिक नींद एक रोग-विशेष है, जिसकी चिकित्सा जरूरी है। तुम लोग कहते हो, न सोने से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, शरीर दुर्बल हो जाता है। बल्कि होता ठीक उल्टा है--सोने से ही शरीर कमजोर होता है, विशेषकर दिन के समय। दोपहर में थोड़ा विश्राम चाहिए--साथ में थोड़ा पढ़ लिया।' ठाकुर से कहो, 'मेरी सारी भोग-वासना दूर कर दो।' नींद एक

भोग ही है, यह भोग भी छोड़ना होगा, यदि ईश्वर को ठीक ठीक चाहते हो तो। जो सचमुच भगवान् को पाना चाहता है, वह सोएगा कैसे ? उसके भीतर तो दिन-रात यही एक चिन्ता धू धू जलती रहती है—'कहाँ, ईश्वर-लाभ तो नहीं हुआ ? कहाँ, आज भी तो उनके दर्शन न कर पाया ? कहाँ, अब भी उनके लिए कहाँ रो पाता हूँ ?'

"ठाकुर हमें प्रार्थना करना सिखाते थे। अपने उस तख्त पर छोटे बच्चे के समान पाँव फैलाकर बैठते और कहते, 'माँ, दिखायी दे ! दिखायी दे, माँ ! तुझे बिना देखे अब मैं रह नहीं पा रहा हूँ। छोटे वच्चे को दूर रख तू कैसी भूली हुई है, माँ ? माँ ! आ माँ ! गोद में उठा ले, माँ !' व्याकुल हो ऐसा कहते और रोने लगते, सचमुच रोने लगते। वह भाव हमें दिखाते दिखाते वे स्वयं उस भाव से भर जाते—छोटे शिशु के समान हाथ-पैर पटक-पटककर माँ को देखने के लिए रोने लगते। फिर स्थिर हो, सजल नेत्रों से रुँधे हुए स्वर में कहने लगते—'माँ ! मैं साधनहीन हूँ, मैं भजनहीन हूँ। माँ, मुझे ज्ञान दे, भक्ति दे। माँ, मुझे अपने चरणों में अचल मति दे।'

"फिर एक दिन ध्यान करना सिखाने लगे—उस दिन मुझे अकेले में ले गये, यद्यपि मैं छोटा था। मेरा मन उस समय तनिक भी चंचल नहीं होता था। बड़ा होने पर भी मैं कमर से ऊपर तक कपड़े समेटकर बाहर शौच के लिए गया हूँ—सबके सामने, पर मुझे लज्जा नहीं आयी। मेरी उम्र के लड़कों को लज्जा होती, पर मुझ नहीं

हुई। तब समझ नहीं पाता था कि यह लज्जा का न होना क्या है !

"मन चंचल नहीं होता था, फिर भी ठाकुर सिखाते--'देख, ध्यान करते करते मन यदि इधर उधर चला जाय, तो मन लगाकर खूब अच्छी तरह जप करना। उससे भी यदि न हो, तो जप का आकर्षण छोड़ मन जैसा चाहेगा, वैसा ही ध्यान करना। इस प्रकार जप भी रहेगा और भीतर भीतर ध्यान भी रहेगा। सोचना--हृदय-मन्दिर में इष्ट-देवता विराजित हैं--सुन्दर, शान्त, सहास्य वदन है; अब उनकी प्रदीप से आरती उतारी जा रही है, अब कपूर से, अब फूल से, अब चँवर डुलाकर--आरती मानो खत्म ही नहीं हो रही है। बहुत बाद यदि आरती हो गयी, तो बस, झट फूल की माला गूँथने बैठ गया--ये सुन्दर सुन्दर फूल, जैसे देखने में सुन्दर वैसे ही सुगन्ध से भरपूर, जूही के बड़े बड़े गुच्छे, और भी बहुत से फूल आ गये। अब उनके चरणों में हाथ भर-भरकर कमल के फूलों की अंजलि चढ़ा रहा हूँ--लाल कमल, सफेद कमल। जब कमल के फूल समाप्त हो गये, तो जवा के फूल शुरू हुए। जवा-फूलों का एक स्तूप बन गया है। फिर और भी बहुत से फूल--सफेद फूल, तरह तरह के फूल। एक के बाद एक--खत्म मत होने देना ! फूल के बाद आ गये नाना प्रकार के फल, मूल, मिठाई। अच्छी तरह सजाकर निवेदन कर रहा हूँ। इस प्रकार से मन को लगाये रखना पड़ता है। मन की गति ही विषय-भोगों (शब्द-स्पर्श-रूप-

रस-गन्ध) की ओर होती है--उस भोग को भगवान् के साथ, इष्ट के साथ कर देने से उसका दोष कट जाता है।'

"सर्वदा भगवान् का स्मरण-मनन और उन पर नितान्त निर्भरशालता--यही तो साधन है, यही तो अन्तिम बात है। हमने ठाकुर को देखा है, उनसे सीखकर जितना बन सका है अपने जीवन को गढ़ा है। ठाकुर का जीवन देखकर, उनकी सन्तानों का जीवन देखकर तुम लोग यदि अपना जीवन गढ़ लेने की कोशिश न करो, तो इस सबकी--इस उठा-पटक की क्या आवश्यकता थी ? दिन-रात ठाकुर के पास प्रार्थना करो--'ठाकुर, दर्शन दो, दर्शन दो। कितनी दूर दूर के लोग--यूरोप, अमेरिका, साउथ आफ्रिका, आस्ट्रेलिया के लोग तुम्हारे दर्शन पा रहे हैं, तुम्हारा भाव पा रहे हैं, तुम उनमें से कितनों को स्वप्न में दर्शन दे रहे हो, तो फिर मुझे दर्शन क्यों नहीं दोगे ? दिखायी क्यों नहीं दे रहे हो ? हम लोग तुम्हारे कितने समीप हैं। हमें विश्वास दो, व्याकुलता दो--अभाव की तीव्र वेदना दो। आज भी तुम्हारे दर्शन न पा सका---यह भाव दिन दिन मानो शूल के समान चुभता रहे।'

o o o

"कल रात दो बजे उठ गया। भीतर आनन्द का प्रवाह बह रहा था, जाने क्यों खिड़की खोल गाने लगा--(१) परबत पाथार...(२) एक सनातन पुरुष निरंजन आदि अनादि गुरु ! 'कथामृत' (श्रीरामकृष्णवचनामृत) में है। बड़े ऊँचे गले से गाने लगा। गोपाल महाराज

(गुणातीतानन्द) को सुनायी पड़ा था। जिस दिन वे शरीर को थोड़ा स्वस्थ रखते हैं, उस दिन और कोई सीमा नहीं रहती। देखो न बच्चों के साथ ही झगड़ा करता हूँ।

"एक दिन बेलुड़ मठ में--तब भी रात बाकी थी--उठ पड़ा। उठते ही स्वामीजी को देखने की इच्छा हुई। दरवाजे के पास जाकर धीरे धीरे दस्तक देने लगा। सोचा था कि स्वामीजी सोये हुए हैं, पर वे जग रहे थे। इतना हल्का दस्तक देने से ही गाने के स्वर में उत्तर आने लगा--

Knocking knocking--who is there ?
Waiting waiting--O how fair !
Waiting waiting--brother dear.

"तब मठ नीलाम्बर मुखर्जी के बगीचे में था। एक दिन रात दो बजे तक चर्चा चलती रही--मानवात्मा की अधोगति होती है या नहीं ? पुनर्जन्म है या नहीं ? स्वामीजी ने तर्क में लगा दिया और मध्यस्थ बन चुप बैठे हँसते रहे। जब देखते कि एक पक्ष कमजोर हो रहा है, तो उसे नयी युक्ति दे उकसा देते। रात के जब दो बज गये, तो उन्होंने चर्चा तोड़ दी। फिर सब सो गये। चार बजते न बजते स्वामीजी ने मुझे उठा दिया। देखा कि वे इस बीच प्रातःक्रिया से निवृत्त हो टहल रहे हैं और गुनगुना रहे हैं। मुझसे कहा, 'लगा घण्टा। सब उठें। सोते रहना अब देख नहीं सक रहा हूँ।' फिर भी मैंने एक बार कह दिया, 'दो बजे तो जाकर सोये हैं, जरा और सो लें न।' इस पर स्वामीजी कठोर स्वर में बोले, 'क्या ? दो बजे सोये हैं, तो क्या छह बजे उठना

होगा ? मुझे दो, मैं घण्टा बजाता हूँ। मेरे रहते ही यह ? सोने के लिए मठ है क्या ?' तब मैंने खूब जोर जोर से घण्टा लगाया। सब हड़बड़ाकर उठ बैठे, चिल्ला पड़े—'कौन है रे, कौन है रे ?' लगता है वे मुझे नोच ही डालते, पर देखा कि मेरे पीछे स्वामीजी खड़े खड़े हँस रहे हैं। तब लोग आँखें मींजते मींजते उस ओर के कमरे में चले गये।

"सम्भवत: यह बेलुड़ में घटा था—हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) एक दिन ध्यान में नहीं गये या जाते उन्हें कुछ देर हो गयी। स्वामीजी ने पूछा, 'क्यों?' वे उत्तर में बोले, 'थोड़ा सर्दी-बुखार के समान लग रहा है।' पहले तो स्वामीजी जोरों से डाँटते-फटकारते रहे—'अभी भी यह देह, देह ! छि !' हरि महाराज हम लोगों में सबसे कठोर नियमवाले, तपस्वी और सहनशील थे। वह सब सुन वे म्लान हो चुप हो रहे। बाद में स्वामीजी स्नेहपूर्वक समझाने लगे, 'तुम लोगों को क्यों डाँटता हूँ जानता है ? तुम लोग ठाकुर के लड़के हो। तुम लोगों को देखकर संसार सीखेगा। तुम लोगों में इतनीसी भी कमी देख बड़ी पीड़ा होती है। तुम लोगों को थोड़ासा भी भिन्न देखने पर वे लोग और भी भिन्नता दिखाएँगे। ठाकुर जैसा कहते थे—मैं सोलह नाच नाचूँ, तो तुम शायद एक नाच नाचो। उसी प्रकार तुम लोग यदि एक नाच नाचो, तो वे लोग एक-सोलहवाँ नाच नाचेंगे। उतना भी यदि न करो, तो वे लोग खड़े कहाँ रहेंगे' ?"

०

# विवेकानन्द का सन्देश

*निरंजन नाथ वांचू*

(श्री निरंजन नाथ वांचू मध्यप्रदेश के राज्यपाल हैं। रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के उपलक्ष में उन्होंने आश्रम-प्रांगण में विशाल जनसमूह को सम्बोधित करते हुए ५ फरवरी १९७८ को जो उद्घाटन-भाषण दिया था, वही प्रस्तुत लेख के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। —स०)

आज यहाँ स्वामी विवेकानन्दजी के जन्म-उत्सव में सम्मिलित होकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

आध्यात्मिकता भारतीय जीवन का मुख्य अंग है। बुरे से बुरे समय में भी हमारे यहाँ आध्यात्मिकता की भावना बराबर बनी रहती है। इस मामले में भारत की स्थिति पश्चिम से भिन्न है। वहाँ आम लोगों द्वारा भौतिक मूल्यों और उपलब्धियों पर अधिक जोर दिया जाता है। हमारी इस भारतभूमि में समय समय पर ऐसी महान् आत्माओं ने जन्म लिया है, जिन्हें अलौकिक ज्ञान प्राप्त हुआ था। जब जब हमारे यहाँ धर्म की हानि हुई है--बुराई फैली है--तब तब हमारा उद्धार करने के लिए यहाँ अवतार हुए हैं। हमारे यहाँ भगवान् बुद्ध और महावीर और आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण परमहंस अवतरित हुए। इस सम्बन्ध में मुझे स्वर्गीय सरदार पटेल की कही हुई बात याद आ रही है। उनका कहना था कि हमारे यहाँ बहुत बड़ी गलतियाँ होती हैं, लेकिन दैवी शक्ति हमें हमारी बड़ी से बड़ी गलती से किसी तरह बचा लेती है--हमारा उद्धार करती है। यद्यपि यह बात उन्होंने राज-

नैतिक क्षेत्र के बारे में कही थी, लेकिन यह आध्यात्मिक जीवन में भी उतनी ही सच है। ईश्वर की कृपा पर निर्भर करना अच्छी बात है, लेकिन इस कृपा-प्राप्ति के योग्य बनने के लिए मनुष्य को स्वयं भी कुछ करना पड़ता है। मुझे इस बात का डर है कि हम अक्सर ही अपनी आध्यात्मिकता को विकृत बनाकर अन्धविश्वास में बदल देते हैं। बाहरी आवरण को पूजने लगते हैं और उसकी आत्मा और उसमें निहित भावना की उपेक्षा कर जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में सच्चे धर्म की पुनःस्थापना आवश्यक हो जाती है और ऐसे ही एक समय पर श्रीरामकृष्ण परमहंस और उनके महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने हमारे देश में जन्म लिया।

स्वामी विवेकानन्द ने, कर्म ही पूजा है, इसका तथा निर्भयता और मानवता की सेवा का सन्देश दिया था। यह सन्देश आज भी उतना ही सही और प्रासंगिक है, जितना कि उस समय था, जब उन्होंने यह सन्देश दिया था। लेकिन स्वामी विवेकानन्द की ख्याति और महानता इस बात में है कि उन्होंने इन दैवी सत्यों का केवल उपदेश ही नहीं दिया, वरन् वे स्वयं एक महान् कार्य करनेवाले कर्ता और निर्माता थे। कर्म, मानवता की सेवा और निर्भयता का जो उपदेश उन्होंने अपने देशवासियों को दिया था, वह उन्होंने स्वयं अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाया था। त्याग, तपस्या और संन्यास का आदर्श भारतीय संस्कृति में गहरा जमा हुआ है। लेकिन स्वामी विवेकानन्द ने

इसे एक नया अर्थ और महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और इसके सदस्यों को परम्परागत मठ के अलगाव से बाहर आकर, जनता-जनार्दन की सेवा के साथ निजी मुक्ति को अपना ध्येय बनाने का निर्देश दिया।

स्वामीजी में असीम जीवनी-शक्ति थी। उन्होंने सम्पूर्ण देश की लगातार यात्रा की और जगह जगह रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। रामकृष्ण मिशन सामान्य नागरिकों का और दीक्षा-प्राप्त संन्यासियों का एक अनुपम संगठन है, जो आध्यात्मिकता और मानव-सेवा दोनों ही क्षेत्रों में कार्य कर रहा है।

मुझे यह कहते हुए दुख होता है कि यद्यपि हम स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों और आदर्शों के प्रति मौखिक श्रद्धा तो व्यक्त करते हैं, लेकिन हममें से अधिकतर लोग वास्तविक जीवन में दूसरे ही ढग से व्यवहार करते हैं। आज हम अपने चारों ओर जो अस्थिरता और अशान्ति देख रहे हैं, उसमें से बहुत कुछ का शायद यही कारण है। यह बहुत ही विचित्र और आश्चर्यजनक बात होने के साथ ही दुखद बात भी है कि जब पश्चिमी देशों के लोग अपनी भौतिक सम्पन्नता से असन्तुष्ट होकर, अपनी अशान्त आत्मा की शान्ति खोजने के लिए हमारे पुरातन देश के अध्यात्म ज्ञान की ओर मुड़ रहे हैं, तब हम अपनी पुरातन धरोहर की उपेक्षा करते हुए और उसे भुलाकर भौतिक उपलब्धियों के लिए आपस में लड़ रहे हैं। इस परिस्थिति का समाधान तभी हो सकता है, जब हम एक

बार फिर स्वामी विवेकानन्द द्वारा दिये गये--निर्भय रहने, कर्म को पूजा मानने और साथी मनुष्यों को ईश्वर का ही रूप मानकर उनकी सेवा करने के सन्देश का अनुसरण करने लगें। जन्मदिन के इस समारोह में हम स्वामीजी के प्रति अपनी सच्ची श्रद्धा और भक्ति को उनके महान् सन्देश को अंगीकार कर और उनका पूरी शक्ति के साथ पालन करने के द्वारा ही व्यक्त कर सकते हैं। यह ठीक है कि हममें से अधिकतर लोग उनके सन्देशों का पूरी तरह अनुसरण नहीं कर सकें, क्योंकि ऐसा करने के लिए आवश्यक अच्छाई और महानता की हममें कमी है, फिर भी हमें प्रयत्न तो करना ही चाहिए। और यदि हम इस प्रयास में कुछ असफल भी रह जाते हैं, तो भी यह प्रयास करना अपने आप में सार्थक होगा और ईश्वर की कृपा से अगले प्रयास में बेहतर सफलता मिल सकेगी।

वास्तव में हमें रामकृष्ण मिशन के सदस्यों का इस बात के लिए आभारी होना चाहिए कि उन्होंने हम सरीखे कमजोर लोगों को भी यह दिखा दिया है कि प्रयत्न मात्र ही व्यक्ति और समाज को समग्र रूप से खुशी, शान्ति और समन्वय प्रदान करता है। उनके द्वारा की जा रही मानवता की निःस्वार्थ सेवा के लिए हम सब को उनका आभार मानना चाहिए।

अन्त में, मैं यह कहना चाहता हूँ कि आज यहाँ इस उत्सव में सम्मिलित होकर मैं बहुत ही गौरवान्वित हुआ हूँ और आपने मुझे यहाँ अपने विचार व्यक्त करने का जो अवसर दिया, उसके लिए मैं आपका आभार मानता हूँ।

०

# मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

## (१) बासी भोजन

श्रावस्ती का मृगारश्रेष्ठि बीस करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं का स्वामी था। उसे रात-दिन अधिकाधिक धन-संग्रह की चिन्ता लगी रहती। लोक-परलोक, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य की परिभाषाओं से वह बिलकुल अनभिज्ञ था।

श्रेष्ठि की पुत्रवधू विशाखा भगवान् बुद्ध की अनुयायी थी। मृगार पर उसके गुणों की धाक थी, किन्तु धन-सम्पत्ति की मरीचिका के पीछे तृषित हिरन की भाँति दौड़नेवाले अपने श्वशुर को रोकने में वह असमर्थ थी।

एक दिन मृगारश्रेष्ठि भोजन कर रहा था, तो विशाखा ने पूछा, "आज का भोजन कैसा है, तात ?"

"तुम जैसी पाककुशल के भोजन में भला त्रुटि कैसी ?" मृगार बोला, "तुम ऐसा क्यों सोचती हो, आयुष्मती ? तुम्हारा भोजन तो सुस्वादु ही रहता है और उससे मैं हमेशा तृप्त रहता हूँ।"

"यह तो आपका भ्रम है, तात !" विशाखा ने दृष्टि नीची करते हुए कहा, "वास्तव में यह भोजन ताजा नहीं, बल्कि बासा है। मेरी तो इच्छा रहती है कि मैं आपको ताजे ताजे व्यंजन खिलाऊँ, किन्तु विवश हूँ, क्योंकि आपके धान्य-भण्डार में ताजे व्यंजन बनाने की व्यवस्था ही नहीं है।"

मृगार ने जो सुना, तो हाथ का कौर हाथ में ही रह गया। साश्चर्य उसने कहा, "यह क्या कह रही हो, शुभे !"

विशाखा ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया, "आपके

भण्डार में जो अन्न है, कोष में जो धन है, पशुशाला में जो गायें हैं, ये सारे आपके पूर्वजन्मकृत पुण्य के परिणाम-स्वरूप हैं। इस जीवन में आपका सारा वैभव बासी ही है। आपका पुण्य-पुरुषार्थ तो मुझे कभी दिखायी ही नहीं दिया। इसलिए यह भोजन बासा ही तो हुआ।"

ये शब्द मृगारश्रेष्ठि के अन्तर को झकझोर गये। उसे जीवन का एक नया दृष्टिकोण मिला और वह धर्म एवं पुण्य-संचय में प्रवृत्त हो गया।

**(२) करनी का फल**

गुजरात की सन्त कवयित्री गौरीबाई की भक्ति एवं धार्मिक वृत्ति देख गिरिपुर के राजा शिवसिंह बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने गौरीबाई के लिए एक अलग मन्दिर बनवा दिया। अब वह अपना सारा समय भजन-पूजन और ध्यानावस्था में बिताने लगी। तब वह इतनी खो जाती कि बाहरी दुनिया की उसे कोई सुध नहीं रहती थी। कुछ लोग इसे ढोंग की संज्ञा देते। इन्हीं में एक वृद्धा हरियन भी थी।

एक दिन सच्चाई मालूम करने की दृष्टि से ध्याना-वस्था में लीन गौरीबाई के शरीर में हरियन ने बहुत सारी सुइयाँ चुभो दीं और भाग गयी। किन्तु इसका उस पर कोई असर न हुआ। दोपहर को स्नान करते समय जब एक दासी को गौरीबाई के शरीर में सुइयाँ चुभी दिखायी दीं, तो उसे बड़ा अचम्भा हुआ। और फिर मन्दिर में पूछताछ चालू हो गयी कि यह दुष्कर्म किसने

किया है। हरियन सहित सभी ने अस्वीकार कर दिया, किन्तु सच्चाई तो भगवान् से छिपी नहीं रहती। कुछ दिनों बाद हरियन को उसकी करनी का फल कुष्ठ के रूप में मिल गया। वह गौरीबाई के पास जाकर उसके चरणों पर गिर पड़ी और उसने सारी बात बताते हुए क्षमा माँगी। तब गौरीबाई बोली, "चिन्ता न करो, बहन! इस रोग से तुम मुक्त हो जाओगी। यह रोग शरीर में फैल न पाएगा। हाँ, इसके दाग रह जाएँगे।" हुआ भी वैसा ही। कुष्ठ रोग से हरियन को मुक्ति मिली, किन्तु उसके दाग स्थायी रूप से शरीर पर रह गये।

### (३) बाह्य आवरण और वास्तविकता

राजकुमारी मल्लिनाथ जैनों की उन्नीसवीं तीर्थंकर मानी जाती है। सुन्दर होने के साथ वह विदुषी भी थी। उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो उससे विवाह के लिए राजकुमारों से प्रस्ताव आने लगे, किन्तु उसके पिता मिथिला-नरेश कुम्भा ने उन प्रस्तावों को अस्वीकृत कर दिया। इससे वे राजकुमार नाराज हो गये और उन्होंने मिथिला पर आक्रमण कर दिया। अकेला राजा उन सबका मुकाबला नहीं कर सकता था, फलस्वरूप उसकी पराजय होने लगी। अपने पिता की पराजय होते देख मल्लिनाथ ने सभी राजाओं को राजमहल के एक कमरे में बुलवाया। उन्होंने जब कमरे में प्रवेश किया, तो वे वहाँ खडी मल्लिनाथ का अनुपम सौन्दर्य देख स्तिमित रह गये। लेकिन उन्हें यह देख और आश्चर्य हुआ कि हूबहू वैसी

हो एक आकृति द्वार के अन्दर आ रही है। यह आकृति और कोई नहीं स्वयं मल्लिनाथ थी, जबकि कमरे में उसकी स्वर्ण-प्रतिमा रखी हुई थी। ज्योंही मल्लिनाथ अन्दर आयी, उसने प्रतिमा के सिर का ढक्कन खोल दिया, किन्तु इससे कमरे में इतनी दुर्गन्ध भर गयी कि सबका वहाँ बैठना भी मुश्किल हो गया। सबने नाक-भौं सिकोड़ी और वे वहाँ से जाने के लिए उद्यत हुए। तब मल्लिनाथ बोली, "यह दुर्गन्ध इस स्वर्ण-प्रतिमा के मुख में डाले गये एक ग्रास की सड़ाँध थी। जब इसकी दुर्गन्ध असह्य हो सकती है, तब मनुष्य-देह में संचित नाना द्रव्यों की दुर्गन्ध भी असहनीय हो सकती है। आप लोग मेरे बाह्य सौन्दर्य पर मुग्ध हैं, मगर इसके पीछे भी सड़ा-गला तत्त्व विद्यमान है। सांसारिक सुख-भोग क्षणिक रहता है और वह मनुष्य को पाप के गर्त की ओर ले जाता है। इसीलिए मैंने निश्चय किया है कि राजसी सुख-वैभव का त्याग कर साधुओं-जैसा निर्मल जीवन व्यतीत करूँ। आपकी भलाई भी इसी में है कि सत्कर्म करते हुए आप प्रजा की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखें।" इन शब्दों का नरेशों पर इतना असर पड़ा कि उन्होंने अपना राजपाट उत्तराधिकारियों को सौंप दिया और वे भी जैन भिक्षुक बन गये।

**(४) समदर्शिता**

काश्मीर में लल्लेश्वरी नामक एक सन्त हो गयी हैं। उनका विवाह बारह वर्ष की अवस्था में हुआ था, किन्तु ससुराल में उनके प्रति दुर्व्यवहार होने से उन्होंने

घर का त्याग कर दिया और सेदवायु नामक एक सन्त से दीक्षा ले लीं। भगवद्-भजन में वे इतनी लीन रहने लगीं कि लोक-लज्जा का भी उन्हें ख्याल न रहता। मीरा के समान मतवाली हो, वे भजन करती हुई जब सड़क से गुजरतीं, तो लोग उनका उपहास उड़ाते।

एक बार वे भजन करती हुई मन्दिर जा रही थीं कि बच्चे उनके पीछे पड़ गये और उन्हें चिढ़ाने लगे। इस पर एक वस्त्र-व्यापारी ने उन्हें डाँटा और भगा दिया। तब लल्लेश्वरी ने व्यापारी से एक कपड़ा माँगा और उसके दो बराबर बराबर टुकड़े करने कहा। व्यापारी द्वारा वैसा करने पर उन टुकड़ों को अपने दोनों कन्धों पर डालकर वे आगे बढ़ीं। रास्ते में जब कोई उनका अभिवादन करता या हँसी उड़ाता, तो वे उन टुकड़ों में एक एक गठान बाँधतीं। मन्दिर से लौटने पर उन्होंने वे टुकड़े व्यापारी को वापस करते हुए उनका वजन करने को कहा। वजन करने पर उनका वजन बराबर बराबर मिला। तब लल्लेश्वरी बोलीं, "प्रशंसा या निन्दा का हमें बिलकुल ख्याल नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये दोनों एक दूसरे को सन्तुलित करते रहते हैं। इसलिए हमें सबको समान दृष्टि से देखना चाहिए और समान भाव से ग्रहण करना चाहिए।

(५) अन्तर

एक बार मुस्लिम सन्त राबिआ मक्का-मदीने की यात्रा पर निकलीं। वे बूढ़ी हो गयी थीं। उन्हें इस अवस्था में पैदल चलते देख खुदा को रहम आया और काबा खुद

उनके स्वागत के लिए आगे आया। इससे हज करने आये लोगों को काबा अपनी जगह पर नजर नहीं आया।

एक बुजुर्ग सन्त इब्राहीम-बिन-अदहम जब चौदह वर्ष यात्रा करने के बाद मक्का पहुँचे, तो नमाज-रकअत पढते समय उन्हें भी काबा नजर नहीं आया। वे बड़े दुःखी हुए और गिड़गिड़ाने लगे कि इतना कष्ट उठाकर वे वहाँ पहुँचे हैं और काबा का दीदार नहीं हो रहा है। इतने में उनके कानों में आवाज आयी—"ऐ इब्राहीम ! काबा इस वक्त एक बूढ़ी औरत के इस्तिकबाल (स्वागत) के लिए गया है। इसीलिए वह तुम्हें दिखायी नहीं दे रहा है।" इब्राहीम को कुतूहल हुआ कि ऐसी कौनसी बुढ़िया है, जिसके लिए काबा भी अपनी जगह से हट गया है। इतने में उसे सामने से लकड़ी टेकती एक बुढ़िया आती दिखायी दी। यह राबिआ थी। इब्राहीम उसे झिड़कते हुए बोले, "ऐ बुढ़िया ! तूने यह क्या हंगामा मचा रखा है कि काबा का हम दीदार भी नहीं कर सकते ?"

राबिआ ने जवाब दिया, "इब्राहीम ! हंगामा मैंने नहीं तुमने मचाया है, जो चौदह बरस के लम्बे अर्से के बाद तुम खान-ए-काबा में आये हो।" इब्राहीम बोले, "मगर मैं तो हर कदम पर नमाज करता आया हूँ।" इस पर राबिआ बोलीं, "तुमने बेशक नमाज पढ़कर मंजिल तय की है, मगर मैंने बेखुदी और हलीमी (दीनता) से इसे तय किया है।" और तब इब्राहीम को राबिआ की श्रेष्ठता मालूम हो गयी।

**(६) अपशब्दों का परिणाम**

महाराष्ट्र की सन्त बहिनाबाई का विवाह अल्पायु में ही शिवापुर के प्रौढ़ जोशी के साथ हुआ था, जो कि बड़ा ही नास्तिक था, जबकि बहिनाबाई हमेशा धर्म-चिन्तन में लीन रहती थी। एक बार विट्ठल-मन्दिर में हरिभक्तपरायण जयरामस्वामी का कीर्तन था। बहिना-बाई भी कीर्तन सुनने गयी। उसके पीछे पीछे उसका बछड़ा भी वहाँ आ गया और एक कोने में चुपचाप खड़ा हो गया, मानो वह भी कीर्तन श्रवण कर रहा हो। उसे आया देख कुछ श्रोताओं ने उसे मारते हुए भगाना चाहा, किन्तु वह टस से मस नहीं हुआ। उसे मारते देख बहिना-बाई को बड़ा दुःख हुआ और उसने लोगों को मारने से रोका। वह बोली, "यह बेचारा भगवन्नाम का श्रवण कर रहा है, फिर इसे क्यों मार रहे हो? इसके आने से कीर्तन में कोई व्यवधान तो नहीं आ रहा है।" लोगों ने उसकी बात अनसुनी कर दी और वे बछड़े को बेरहमी से पीटने लगे। इससे बहिनाबाई की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। तब जयरामस्वामी वहाँ आये और उन्होंने बछड़े पर हाथ फेरते हुए लोगों से कहा, "यह कोई पूर्वजन्म का धर्मात्मा मालूम होता है, इसलिए से भी कीर्तन सुनने दो।" उन्होंने बहिनाबाई के भी मस्तक पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया। लोग शान्त हो गये और कीर्तन फिर से चालू हो गया।

दूसरे दिन बहिनाबाई के पति को रात्रि की घटना

मालूम हुई, तो उसे यह सुन बड़ा गुस्सा आया कि उसकी पत्नी ने अपने मस्तक पर एक परपुरुष को हाथ फेरने दिया। वह उसे जोर जोर से पीटने लगा। जब मकान-मालिक को बात मालूम हुई, तब कहीं उसे रोका जा सका। तीन दिनों बाद बछड़े की मृत्यु हो गयी। बहिन्गा को बड़ा दुःख हुआ और शोक मनाने लगी। रात्रि को स्वप्न में सन्त तुकाराम ने उसे दर्शन दिया और 'गीता' देते हुए मंत्र दिया और कहा कि "कष्ट-क्लेशों के बाद ही परमार्थ की प्राप्ति होती है।" बहिनाबाई ने इसे तिथि और दिन सहित निम्न श्लोक में इस प्रकार स्वीकार किया है--

'ठेऊनिया करमस्तकी बोलला
मंत्र सांगितला कर्णरंध्री।
कार्तिकात वद्य पंचमी रविवार
स्वप्नीचा विचार गुरुकृपा ।।'

बात जब उसके पति को मालूम हुई, तो उसने इसे ढोंग की संज्ञा दी और उसने तुकाराम के प्रति अपशब्द कहे। इतना ही नहीं, उसने पत्नी का त्याग करने की तैयारी की। वह ज्योंही सामान बांधकर बाहर जाने लगा कि उसके सारे शरीर में असहनीय वेदना होने लगी। वह धूल में लोटने लगा, किन्तु वेदना रुक नहीं रही थी। तब वह सोचने लगा ऐसा क्यों हो रहा है और उसे ख्याल आया कि उसने अपनी पत्नी को ही तंग नहीं किया, बल्कि तुकाराम-जैसे महात्मा के प्रति अपशब्द भी कहे थे।

उसने मन ही मन तुकारामजी से क्षमा माँगी, तब कहीं वेदना शान्त हुई। वह अपनी पत्नी के पास गया और उससे भी क्षमा माँगी और उसे 'गुरु' कहकर पुकारा। अब उसका कायापलट हो चुका था। उसने बहिना को फिर कभी तंग नहीं किया।

०

मनुष्य को भगवान् का स्मरण निरन्तर करते रहना चाहिए और विवेक-ज्ञान की प्राप्ति के लिए उनसे प्रार्थना करनी चाहिए। बिरले ही व्यक्ति जप-ध्यान में स्थित हो सकते हैं। अधिकांश लोग प्रारम्भ में तो बड़ी तत्परता से ध्यान-प्रार्थना में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु सदैव वही करते रहने से मस्तिष्क गरम हो जाता है और वे क्रमश: दम्भ के शिकार हो जाते हैं। कई विषयों पर निरन्तर मनन करते रहने से, उनका मन भी चंचल हो जाता है। किसी न किसी काम में रुचि दिखाना मन को भटकाने की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। जब मन को कुछ छूट मिलती है, तो वह विशेष उलझनें पैदा करने लगता है। मेरा नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) इन्हीं सब बातों का अनुभव करके मिशन जैसी संस्था की स्थापना में कटिबद्ध हुआ, जहाँ 'नारायण-भाव' से मनुष्य मात्र की सेवा सम्भव हो सके और आध्यात्मिक कल्याण भी सुगम हो सकें।

—श्री माँ सारदा देवी

# होत न भूतल भाउ भरत को

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

प्रेममूर्ति श्री भरत के जीवन में चारों वर्ण और चारों आश्रमों का अपूर्व समन्वय हुआ है। वे ब्राह्मण भी हैं, क्षत्रिय भी हैं, वैश्य और शूद्र भी हैं। इसी प्रकार वे ब्रह्मचारी भी हैं तथा गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी भी। वर्णाश्रम-धर्म सर्वतोभावेन उनके जीवन में समन्वित हुआ है। श्री भरत ब्राह्मण कैसे हैं ? ब्राह्मण का लक्षण बताते हुए गुरु वसिष्ठ कहते हैं——

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना।

तजि निज धरमु बिषय लयलीना।। २/१७१/३

——'वह ब्राह्मण सोचनीय है, जो वेद का ज्ञाता नहीं है तथा जो अपने धर्म का परित्याग कर विषय में लवलीन रहता है।' इस कसौटी पर कसने पर श्री भरत से बढ़कर पवित्र ब्राह्मण की कल्पना नहीं की जा सकती। उनके जैसा ज्ञानी, वेदज्ञ तथा विषयों से दूर ब्राह्मण मिलना दुर्लभ है। इसके दृष्टान्तस्वरूप गोस्वामीजी अयोध्याकाण्ड में एक विलक्षण रूपक प्रस्तुत करते हैं——पुराणों में कथा आती है कि हिरण्याक्ष नामक दैत्य ने पृथ्वी को चुरा लिया और तब भगवान् ने वाराह अवतार ले पृथ्वी का उद्धार किया। दूसरी कथा है——एक बार विन्ध्याचल पर्वत बढ़ने लगा। इसके फलस्वरूप सूर्य का प्रकाश रुकने लगा। तब उस समय महर्षि अगस्त्य ने आकर विन्ध्याचल

को नीचे झुकाया, जिससे ससार को सूर्य का प्रकाश उपलब्ध हुआ। ये दोनों संकेत गोस्वामीजी श्री भरत के लिए देते हैं। गुरु वसिष्ठ और अयोध्या के समस्त पुरवासियों की बुद्धि मानो पृथ्वी है और शोक है हिरण्याक्ष। शोक के हिरण्याक्ष ने समस्त पुरवासियों की बुद्धि को चुरा लिया। उसका उद्धार किसने किया ? गोस्वामीजी लिखते हैं--

सोक कनकलोचन मति छोनी।
हरी बिमल गुन गन जगजोनी ।।
भरत बिबेक बराहँ बिसाला।
अनायास उधरी तेहि काला ।। २/२९६/३-४

--वह श्री भरत का विवेकरूपी वराह था, जिसने लोगों की अपहृत बुद्धि का उद्धार किया। पहले लोग किंकर्तव्यविमूढ़ थे कि जाने किसकी बात रहेगी--श्री भरत की अथवा भगवान् राम की ? प्रेम की विजय होगी या धर्म जीतेगा? भगवान् राम ने तो यहाँ तक कह दिया था कि भरत, जो तुम चाहोगे मैं वही करूँगा। लोग सब भ्रमित थे। ऐसे समय में श्री भरत ने ऐसा विलक्षण निर्णय लिया कि उनके विवेक ने लोगों की दिग्भ्रमित बुद्धि का उद्धार कर दिया। गोस्वामीजी ने दूसरा दृष्टान्त देकर इसकी और भी पुष्टि की। उन्होंने कहा--

कुसमउ देखि सनेहु सँभारा।
बढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा ।। २/२९६/२

--'जैसे अगस्त्यजी ने बढ़ते हुए विन्ध्याचल को रोका था, वैसे ही भरतजी ने कुसमय का विचार कर अपने

उमड़ते हुए प्रेम को सँभाल लिया ।'

कथा आती है कि विन्ध्याचल पर्वत ने सूर्य से कहा, "आप जैसे सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते हैं, उसी प्रकार मेरी भी परिक्रमा कीजिए ।" सूर्य ने कहा, "ऐसा करने के लिए मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ । मैं तो ईश्वर के नियमों से बाध्य हूँ ।" विन्ध्याचल ने कहा, "तब हम आपके प्रकाश को रोक लेंगे ।" और यह कहकर विन्ध्याचल बढ़ने लगा। इसके फलस्वरूप सूर्य का प्रकाश रुकने लगा। ऐसे समय में वहाँ मुनि अगस्त्य आये । उन्हें देखकर विन्ध्याचल ने साष्टांग प्रणाम किया और पूछा, "प्रभु, क्या आज्ञा है ?" अगस्त्य ने कहा, "जब तक मैं लौटकर न आऊँ, तुम इसी प्रकार पड़े रहो ।" और कहा जाता है कि अगस्त्यजी दक्षिण भारत में जाकर वहीं बस गये, फिर लौटे नहीं । तब से विन्ध्याचल पड़ा ही हुआ है, उठा नहीं । प्रतीकात्मक अर्थों में इस कथा का तात्पर्य क्या हुआ ? यह जो लोकैषणा है, अपने को ऊपर उठाने की आकांक्षा है, यही विन्ध्याचल पर्वत है । विन्ध्याचल की यह आकांक्षा सबके मन में पायी जाती है । प्रत्येक यही चाहता है कि मैं प्रकाश का केन्द्र-बिन्दु बन जाऊँ, मेरे चारों ओर प्रकाश रहे । और प्रकाश की आकांक्षा कभी कभी व्यक्ति को अन्धकार का प्रेमी बना देती है। जब सूर्य ने विन्ध्याचल से कहा कि मैं तुम्हारी परिक्रमा नहीं करूँगा, तो विन्ध्याचल ने कहा कि मैं तुम्हारा प्रकाश संसार में फैलने नहीं दूँगा। ऐसे समय में अगस्त्य आते हैं। ये अगस्त्य कौन

हैं ?--वे हैं 'विवेक'। इनका नाम है 'कुम्भज'। कुम्भ अर्थात् घड़े से जिनका जन्म हुआ हो, वह है कुम्भज। फिर कथा आती है कि अगस्त्य ने समुद्र को पी लिया था। घड़े में समुद्र कभी नहीं समा सकता, पर घड़े के बेटे ने समुद्र को पी लिया! इसका तात्पर्य बड़ा गम्भीर है। मनुष्य का शरीर है तो छोटा, पर इसमें जन्म लेने-वाला विवेकरूपी अगस्त्य सारे 'भवसागर' को पी सकता है। और विवेक की महिमा यह है कि जब विवेकरूपी अगस्त्य आते हैं, तो विन्ध्याचल-जैसा कठोर पर्वत भी--भले ही उसमें लाखों कमियाँ हों--उनके सामने झुक जाता है, उन्हें नमन करता है।

एक सज्जन ने कहा, अगस्त्य तो बडे छली निकले। विन्ध्याचल ने तो उन्हें प्रणाम किया, पर उन्होंने उसे हमेशा के लिए लिटा दिया। पर यह बात सही नहीं। गोस्वामीजी ने रामायण में इसका उत्तर दिया है। लोगों ने बीच में विन्ध्याचल से कहा, "तुम उठ जाओ। अगस्त्य अब कभी लौटेंगे नहीं। तुम्हें धोखा दिया गया है।" विन्ध्याचल बोला, "नहीं, नहीं, हम सन्त की आज्ञा का पालन करेंगे ही, चाहे जो भी हो जाय।" और परिणाम क्या हुआ ?--सन्त की आज्ञा का पालन का फल उसे मिल गया। विन्ध्याचल तो तरस रहा था कि सूर्य मेरी परिक्रमा करे, पर एक दिन उसने देखा कि उसके ही एक शिखर--चित्रकूट--पर भगवान् राम चले आ रहे हैं। भगवान् राम कौन हैं ?--

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड । १/२०१

--वे, जिनके रोम रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड बसे हुए हैं। भगवान् राम ने आकर कहा कि मैं चित्रकूट में रहूँगा, तो विन्ध्याचल को लगा--मैं तो तरस रहा था कि एक सूर्य मेरी परिक्रमा करे, पर जिनके रोम रोम में कोटि कोटि सूर्य विराजमान हैं, वे ब्रह्म ही जब मेरी परिक्रमा करने लगे, तो इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य और क्या हो सकता है ! सन्त की आज्ञा-पालन का इससे बढ़कर फल और क्या होगा ? तभी तो गोस्वामीजी ने लिखा--

बिधि मुदित मन सुखु न समाई ।
श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई ॥ २/१३७/८

--'विन्ध्याचल बहुत आनन्दित हुआ। उसके मन में सुख समाता नहीं। बिना परिश्रम के ही उसने इतनी विपुल बड़ाई प्राप्त कर ली।' सन्त की आज्ञा से जब व्यक्ति नमन करता है, अपने अहं का परित्याग करता है, तब भगवत्प्राप्ति के रूप में उसकी आकांक्षा पूर्ण होती है। श्री भरत का विवेक मुनि अगस्त्य के समान है, जो लोगों के अहं का नाश कर उनकी बुद्धि को शुद्ध करता है। श्री भरत से बढकर ब्राह्मणधर्म का आस्थावान् स्वरूप और कौन हो सकता है ?

क्षत्रिय के रूप में भी भरत अद्वितीय हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि वह क्षत्रिय शोक करने योग्य है--

सोचिअ नृपति जो नीति न जाना ।
जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥ २/१७१/४

--'जो नीति से अनभिज्ञ है तथा जिसे अपनी प्रजा प्राणों के समान प्यारी नहीं है।' इसमें भी श्री भरत की बराबरी कोई क्या करेगा ? श्री हनुमानजी के मन में एक क्षण के लिए प्रश्न आ गया था कि लंका के युद्ध में भरत लड़ने क्यों नहीं आये ? श्री भरत भगवान् के इतने बड़े भक्त कहे जाते हैं; तो वे उनकी सहायता के लिए क्यों नहीं आये ? भगवान् राम ने सोचा कि अब इन दोनों भक्तों को, महान् सन्तों को मिला ही दें। दोनों एक दूसरे को जरा समझ लें, तो अच्छा रहेगा। श्री लक्ष्मणजी को शक्ति लगी। हनुमानजी को भगवान् राम की आज्ञा हुई, औषधि ले आने की। भगवान् राम के मन में एक दूसरी भी बात थी--यह ठीक है कि हनुमानजी लक्ष्मणजी के लिए दवा लेने जा रहे हैं, पर हनुमानजी को भी थोड़ी दवा की आवश्यकता है और उन्हें लगा कि इसके लिए श्री भरत से बढ़कर परम वैद्य मिलना कठिन है। और क्या हुआ ?--जब हनुमानजी औषधि का पर्वत ले लौटने लगे, तो उन्हें अचानक ध्यान आया कि अयोध्या में जरा देखते चलें कि भरतजी की क्या अवस्था है ! जब वे अयोध्या के ऊपर आये, तो उन्हें भगवान् के इस कथन की सत्यता की कि 'भाइ भरत जस राउ'--भरत जैसा दूसरा राजा क्या होगा--पूरी पूरी अनुभूति हुई। हनुमानजी ने देखा--सारी अयोध्या सोयी पड़ी है, एकमात्र एक व्यक्ति, अयोध्या के कहे जानेवाले राजा, श्री भरत, हाथ में धनुष-बाण लिए सजग भाव से खड़े पहरा दे रहे हैं। उनके मन में

यही भाव है कि यह अयोध्या भगवान् की थाती है, यहाँ के लोग भगवान् की प्रजा हैं, इनकी रक्षा ही मेरा कर्तव्य है। नियम तो यह है कि राजा सोता है और प्रहरी पहरा देते हैं। पर यहाँ प्रजा सो रही है और राजा पहरा दे रहा है। हनुमानजी और भरतजी दोनों ने एक दूसरे को देखा और दोनों के मन में अलग अलग विचार उठे। हनुमानजी तो श्री भरत को परखने की चेष्टा कर रहे हैं और इधर श्री भरत के मन में अचानक बात आयी—

देखा भरत बिसाल अति निसिचर मन अनुमानि। ६/५

—यह कोई विशाल निशाचर है। वैस तो उनके मन में ऐसी बात नहीं उठनी चाहिए थी। पर उनके मन में कौतुकी प्रभु जो बैठे हुए हैं! उन्हीं ने मानो प्रेरणा दी—'भरत! वाण चलाओ। लेकिन जरा ध्यान रखना। देखो, संसार का सबसे बड़ा सन्त और निशाचर दोनों इसमें एक साथ लगे हुए हैं। बाण ऐसा चलाना कि निशाचर मरे और सन्त बचे। वैसे तो बाण मेरे पास भी हैं और मैं भी इसे मार सकता हूँ, पर जहाँ सन्त और निशाचर दोनों हों, वहाँ मुझे बड़ी कठिनाई होती है। इसीलिए मैंने इसे तुम्हारे पास भेजा है।' श्री हनुमानजी में अज्ञान और अहंकार का लेश भी नहीं, पर प्रभु अपनी लीला में दोनों भक्तों को एक दूसरे का गौरव बताना चाहते हैं। इसीलिए क्षणभर के लिए हनुमानजी के मन में यह विचार उठ गया था कि लक्ष्मणजी तो मूर्छित पड़े हैं, अब मेरे सिवा और कोई औषधि नहीं ला सकता।

और अब जब हनुमानजी औषधि लेकर चले, तो भगवान् ने श्रीभरत को प्रेरणा दी कि बाण चलाओ। श्रीभरत ने बाण चलाया--'बिनु फर सायक मारेउ'--बिना फर का बाण चलाया। और जब हनुमानजी गिरने लगे, तो अन्तर्यामी प्रभु ने मुसकराकर कहा--'देखो हनुमान, तुम दूसरे की मूर्छा दूर करने दवा लेकर जा रहे हो और स्वयं मूर्छित होकर गिर रहे हो। दवा तुम्हारे पास में है, फिर भी मूर्छा दूर नहीं हो पा रही है। अतः यह जान लेना कि दवा रहते हुए भी व्यक्ति मूर्छित हो सकता है।' हनुमानजी जब गिरे तो कैसे गिरे--

परेउ मुरुछि महि लागत सायक।
सुमिरत राम राम रघुनायक ।। ६/५८/१

--प्रभु का नाम लेते हुए गिरे। श्रीभरतजी यह सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गये। परम सन्त की आँखों में आँसू भर आये। वे सोचने लगे--मैं कितना अभागा हूँ, कितना पापी हूँ। आज तक मेरे द्वारा केवल अपराध ही अपराध हुआ। एक महान् सन्त और भक्त को भी नहीं पहचान पाया, उस पर बाण चला दिया। भरतजी को जीवन भर ग्लानि रही कि--

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी ।। ७/०/५

वे हनुमानजी के समीप जाते हैं और उन्हें जगाने का प्रयास करते हैं, पर हनुमानजी की मूर्छा दूर नहीं होती। हनुमानजी भगवान् राम को अपने हृदय में रखते हैं।

भगवान् का रूप उनकी मूर्छा को दूर नहीं कर सका। वे भगवान् का नाम लेते हुए गिरे। नाम के द्वारा भी उनकी मूर्छा दूर नहीं हुई। तब भरतजी ने निर्णय लिया— बस, अब मैं अपने प्राण ही छोड़ दूँगा। जब इतने बड़े सन्त का मेरे द्वारा विनाश हो गया, तब इस जीवन को रखने से क्या लाभ ? अन्तर्यामी प्रभु ने भीतर से कहा-- 'भरत, दवा तो तुम्हारे पास ही है, उसे छिपाओ मत, अब कृपणता न करो। वही दवा दोगे, तभी इसकी मूर्छा दूर होगी।' और तब सचमुच जो औषध भगवान् निकलवाना चाहते थे, वह भरतजी के हृदय से प्रकट हुई। चारों ओर से निराश भरतजी के मुँह से प्रथम और अन्तिम बार यह वाक्य निकला--

जौं मोरें मन बच अरु काया।
प्रीति राम पद कमल अमाया।।
तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला।
जौं मो पर रघुपति अनुकूला।। ६/५८/६-७

--'यदि मेरे अन्तःकरण में मन, कर्म और वचन से प्रभु के चरणों में निष्कपट प्रेम हो, तो यह वानर थकावट और पीड़ा से रहित हो जाय।' इतना कहना था कि हनुमानजी की मूर्छा दूर हो गयी। भगवान् ने मानो संकेत दिया कि भरत, इस दवा को प्रकट करने के लिए ही मैंने हनुमान को तुम्हारे पास भेजा था। जहाँ मेरा नाम और रूप असफल हो गया, वहाँ तुम्हारी भक्ति और प्रेम की दिव्य अमृतरूपी औषध ने बन्दर को चैतन्य कर दिया। अब

हनुमानजी को श्रीभरत की महानता का ज्ञान हुआ और उन्हें बोध हुआ कि श्रीभरत अयोध्या में क्यों बैठे हुए हैं।

हनुमानजी हैं भगवान् राम के बाण, और श्रीभरत हैं उनके धनुष--

जिमि अमोघ रघुपति कर बाना।
एही भाँति चलेउ हनुमाना ॥ ५/०/८

भगवान् राम ने सोचा--हनुमान, तुम तो मेरे बाण हो। तुम्हें अपने धनुष से मिलवा दूँ। बाण और धनुष में अन्तर क्या है? बाण चलकर कार्य करता है और धनुष अचल रहकर। धनुष कभी चलता दिखायी नहीं देता, पर प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि जो बाण चल रहा है, वह उस अचल धनुष की प्रेरणा से, उसकी क्षमता से चल रहा है। हनुमानजी को अनुभव हुआ कि श्रीभरत अचल रहकर भी अयोध्या में बैठे कितनी बड़ी लड़ाई लड़ रहे हैं। अन्त में जब श्री भरत ने उनसे कहा--

चढ़ु मम सायक सैल समेता।
पठवौं तोहि जहँ कृपानिकेता ॥ ६/५९/६

--'तुम पर्वतसहित, मेरे बाण पर चढ़ जाओ, मैं तुमको वहाँ भेज दूँ, जहाँ कृपा के धाम श्रीरामजी हैं', तो हनुमानजी के मन में क्षणभर के लिए अभिमान हो आया --

सुनि कपि मन उपजा अभिमाना।
मोरें भार चलिहि किमि बाना ॥ ६/५९/७

--मेरे भार से यह बाण कैसे चल पाएगा? पर तुरन्त ही श्री भरत की महानता का स्मरण कर उनका हृदय

गद्‌गद हो गया। उन्हें लगा कि अभी तक तो मैंने शास्त्रों में ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र, पाशुपतास्त्र आदि हजारों शस्त्रों और अस्त्रों का नाम सुना था, पर ऐसा बाण जो जीव को भगवान् के पास पहुँचा दे कहीं नही सुना। यह तो केवल भरत के लिए ही सम्भव है। उन्होने श्री भरत के चरणों में प्रणाम करके कहा कि मैं आपकी कृपा का आश्रय ले बाण की तरह ही चला जाऊँगा। और जब वे वहाँ से चले, तो--

भरत बाहु बल सील गुन प्रभु पद प्रीति अपार।

मन महुँ जात सराहत पुनि पुनि पवनकुमार ।।६/६०ख

--श्री भरत के बाहुबल, शील, गुण और प्रभु-चरणों में उनके अपार प्रेम की सराहना करते हुए चले। उनके अन्त:करण में अपार सन्तोष और सुख हुआ। उनके भीतर जो शंका उठी थी कि श्री भरत भगवान् राम की ओर से लड़ने लंका क्यों नहीं आये, वह दूर हो गयी। उन्होंने जान लिया कि श्री भरत किस प्रकार अयोध्या में रहकर ही महान् लड़ाई लड़ रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री भरत जैसा क्षत्रिय दुर्लभ है।

श्री भरत श्रेष्ठ वैश्य भी हैं। वैश्य धर्म का निरूपण करते हुए गुरु वसिष्ठ ने कहा था---

सोचिअ बयसु कृपन धनवानू।

जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ।।२/१७१/५

--'वह वैश्य सोच के योग्य है, जो धनवान् होकर भी कृपण है, जो शंकर जी का भक्त नहीं और जो अतिथि-

प्रेमी नहीं।' वैश्य अर्थप्रधान होता है। और इस नाते उसका कर्तव्य है कि जो धन उसे प्राप्त है, उसका लोक-कल्याण में उपयोग करे। वैश्य को उदर का स्वरूप माना जाता है। जिस प्रकार उदर भोजन को अपने पास न रखकर रक्त के रूप में सारे शरीर में प्रवाहित कर देता है, उसी प्रकार वैश्य का धर्म है कि वह अपने धन को समाज के कल्याण के लिए लगाए। फिर कहा गया कि वैश्य को शंकरजी का भक्त होना चाहिए। शंकरजी की भक्ति का तात्पर्य पूरे अर्थों में लेना चाहिए। शंकरजी की प्रतिमा का पूजन करना, उस पर जल चढ़ाना, चन्दन चढ़ाना यह उनकी भक्ति का एक रूप है। पर भक्ति की पूर्णता तब होगी, जब मन भी पूरी तरह शंकरजी के प्रति समर्पित हो। आपके यहाँ जब कोई व्यक्ति आता है, तो आप उसे स्नान कराते हैं, भोजन कराते हैं, वस्त्र अर्पित करते हैं, साथ ही यह भी ध्यान रखते हैं कि उसके मन को किसी प्रकार का कष्ट न हो। यदि कोई शंकरजी की पूजा रावण की तरह करे, तो वह अधूरी पूजा है और यदि भगवान् राम की तरह करे, तो वह पूरी है। रावण भी शंकरजी की पूजा करता है, पर उनके प्रति आन्तरिकता और विश्वास न होने के कारण वह अपना सब कुछ गँवा बैठता है। इसीलिए रामायण में कहा गया कि शंकरजी का सच्चा भक्त वह है, जो शिव का विश्वासी है, जो शिव के चरित्र को अपने जीवन में उतारता है। वैश्य को शिव का भक्त होना चाहिए, क्योंकि

संसार में शिव के समान कोई दानी नहीं है। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं——

दानी कहुँ संकर-सम नाहीं।

दीन-दयालु दिबोई भावै,जाचक सदा सोहाहीं॥ ४/१

——उन्हें सदा देना ही अच्छा लगता है। फिर, वे सदा नग्न रहते हैं। 'कवितावली' रामायण (उत्तरकाण्ड) में गोस्वामीजी ने लिखा कि कोई माँगनेवाला शिवजी के पास आया। पर शिवजी को देखकर वह घबरा गया। सोचा——जब ये स्वयं नग्न हैं, तब दूसरे को क्या देंगे ? शंकरजी ने तुरन्त उससे कहा——

नागो फिरै कहै मागनो देखि

'न खागो कछू', जनि मागिये थोरो।

——यहाँ कोई कमी नहीं है, थोड़ा मत माँगना। इसका अभिप्राय यह है कि जो नग्न है, जिसे अपने वस्त्र की चिन्ता नहीं, जो केवल दूसरों के वस्त्र की चिन्ता कर रहा है, वही तो महान् दाता है। यह शिव की उदारता की पराकाष्ठा है। उन्होंने अपने रहने के लिए मकान ढूँढ़ा श्मशान में और वहाँ भी कोई घर बनाया नहीं, रहते हैं खुले में। शिव का दर्शन यह है कि संसार में कोई चाहे कितना भी सुन्दर घर क्यों न बनाए, कुछ दिन के बाद वह छोटा और पुराना लगने लगेगा। यदि वह उसे अपना मानेगा, उस पर अधिकार की वृत्ति रखेगा, तो यह उसका भ्रम ही होगा। एक दिन घरवाले उसे घर से निकाल बाहर करेंगे। इसलिए शंकरजी ने सोचा——

सारे घर बनानेवाले अन्त में घर से निकाल बाहर किये जाकर जहाँ पहुँचाये जाते हैं, वह जगह सबसे बढ़िया है। सब वहीं पर आएँगे। सबसे भेंट होगी। सबसे गले मिलेंगे, कहेंगे--अब हम और तुम बराबर हो गये। तुम घर से निकाले गये हो और हमारा घर है ही नहीं। शिवजी चिता की राख अपने शरीर में लगाते हैं, इसका अभिप्राय क्या? व्यक्ति जब तक जीवित है, लोग उसे पवित्र मानते हैं, पर उसके मरने के बाद उसके शव को छूने से स्नान करना पड़ता है, कहते हैं अपवित्र हो गये। जब तक उसके प्रति स्वार्थ था, तब तक वह पवित्र था। अब तो कुछ करेगा-धरेगा नहीं, तब अपवित्र ही है। उसको छूकर नहाना पड़ता है। तभी तो सूरदासजी ने कहा है--

जा दिन पंछी मन उड़ि जैहें।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात छरि जैहें।
घर के कहिहें बेगहि काढ़ो भूत भये कोउ खइहें।।
जा प्रीतम सों प्रीति घनेरी सोउ देखि डरैहें।

चिता-भस्म अनासक्ति की प्रतीक है। इसके माध्यम से भगवान् शंकर यह बताना चाहते हैं--चाहे जो बनाओ, चाहे जो करो, पर उसमें आसक्त मत होओ। अनासक्त भाव से कर्म करो यही शिव की दृष्टि है। शिव अतिथि-भक्त भी हैं। इसीलिए वैश्य के लिए भी कहा गया कि उसे अतिथि-भक्त होना चाहिए। शिवजी की अतिथि है--रामायण, भगवान् राम की कथा--

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।

कामद घन दारिद दवारि के ।। १/३१/८

--शंकरजी के लिए भगवान् राम का चरित्र ही पूज्य अतिथि है। हम लोगों के यहाँ अतिथि की बड़ी मर्यादा है। अतिथि वह है, जिसके आने की तिथि का ज्ञान न हो। ऐसे अतिथि की सेवा करना, उसे दान देना ठीक ठीक अतिथि-धर्म का पालन करना है। दान देते समय यदि अपने परिचितों को ढूँढ़-ढूँढ़कर दान दिया जाय, तो वह दान नहीं कहलाएगा। दान वह है, सेवा वह है, जहाँ स्वार्थ की सिद्धि न हो। अतः अतिथि का सत्कार श्रेष्ठ जन ही कर सकते हैं। पर वे भी अपेक्षा रखते हैं कि अतिथि के आने के समय की एक सीमा हो। लेकिन भगवान् शंकर के यहाँ समय का कोई बन्धन नहीं। भगवान् शंकर ने घर बनाया श्मशान में, इसलिए कि अगर घर में दीवाल रहेगी तो दरवाजा भी रहेगा और वह यदि बन्द रहे, तो अतिथि आकर लौट जा सकता है। पर श्मशान में न कोई दीवाल है, न कोई दरवाजा। सबके लिए वहाँ का द्वार खुला हुआ है।

हम लोग भी भगवान् राम के चरित्र से प्रेम करते हैं, पर शिव की तरह नहीं। हम लोग कहते हैं कि भई, इतनी देर पूजा करेंगे, पाठ करेंगे, इतनी देर सत्संग करेंगे। पर शिवजी चौबीसों घण्टे भगवान् के चरित्र के लिए द्वार खोले बैठे हुए हैं। उनके लिए कोई समय नहीं, कोई मर्यादा नहीं। जब भी अतिथि आये, वे सत्कार को तत्पर हैं। इसीलिए कहा गया कि 'अतिथि पूज्य प्रियतम

पुरारि के'।

शिवजी का कुल भी अनुपम है। दूसरों के कुल के बारे में कहना कठिन है कि वह शुद्ध है अथवा नहीं। पर शिवजी का कुल तो परम पवित्र है। जब उनका विवाह होने लगा, तो देवतागण कहने लगे--

जय जय जय संकर सुर करहीं। १/१००/४

--शंकरजी की जय हो, जय हो, जय हो। हमारे यहाँ विवाह की परम्परा में वर और कन्या दोनों ओर की तीन तीन पीढ़ियों का उच्चारण किया जाता है। जब कन्यापक्ष से तीन पीढ़ियों का उच्चारण हो गया, तो वरपक्ष से उच्चारण की बात आयी। पूछा गया--शंकर के पिता कौन? देवताओं ने कहा--जय शंकर। परपिता कौन?--जय शंकर। पितामह कौन?--वे भी जय शंकर। सभी जय शंकर। इनका कुल परम शुद्ध है, क्योंकि वे स्वयं अपने आप में पूर्ण हैं। उनके आदि का प्रश्न ही नहीं है। अतः वही व्यक्ति धन्य है, जिसके जीवन में शिव की यह वृत्ति आ जाय, शिव का वरत्व आ जाय, शिव की गृह के प्रति अनासक्ति आ जाय तथा जो शिव के समान कुल की पवित्रता का सच्चा अर्थ समझ ले। वह कुल धन्य है, जहाँ--

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥ ७/१२७

--भगवान् के भक्त पैदा होते हैं। श्री भरत के जीवन में शिव-भक्ति का ज्वलन्त आदर्श मिलता है। शिव हैं

साक्षात् विश्वासस्वरूप। 'मानस' में कहा गया है——'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ', और यह विश्वास श्री भरत के जीवन का चरम आधार है। उन्हें प्रभु पर ऐसा विश्वास है कि——

जद्यपि जनमु कुमातु तें मैं सठु सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस ॥ २/१८३

——भले मेरा जन्म कुमाता से हुआ है तथा मैं दुष्ट और दोषयुक्त भी हूँ, पर मुझे भगवान् राम का भरोसा है, वे मुझे नहीं त्यागेंगे। साथ ही उनकी उदारता का क्या कहना! इतने बड़े राज्य को पाकर भी उनके मन में तनिक अहंकार नहीं है। संकेत आता है, जब चित्रकूट चलने का निर्णय हो गया, तो अयोध्या के लोग दो दलों में बँट गये। एक का कहना था कि श्रीराम के पास चलेंगे, पर-घर बार की रक्षा के लिए पहरेदार रख लिये जायँ। और दूसरे दल का कथन था——

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाई। २/१८५

——वह सम्पत्ति, वह घर-बार, वे माता-पिता जल जायँ, जो प्रभु के मिलन में बाधक हैं। सब छोड़ो और चलो प्रभु की ओर। एक दल था रागियों का और दूसरा त्यागियों का। दोनों राम को पाना चाहते थे। पर एक को चिन्ता थी कि घर बना रहे और राम मिलें। और दूसरे के मन में बात थी कि राम मिलना चाहिए——घर रहे चाहे जाय। श्री भरत से जब पूछा गया, "पहरेदार रखे जायँ या नहीं, आप क्या कहते हैं," तो भरतजी ने कहा, "मैं तो यही

समझता हूँ कि पहरेदार रखे जायँ।" लोगों को यह सुनकर आश्चर्य हुआ—इन्हें घर के प्रति इतना मोह ! ये तो रागियों की भाँति हो गये। लेकिन श्री भरत का तात्पर्य क्या था ? यदि कोई अपनी वस्तुओं का त्याग कर दे, अपना घर छोड़ दे या जला दे, तो लोग कह सकते हैं कि ये बड़े त्यागी हैं, इनके मन में कोई ममता नहीं है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति दूसरे का घर फूँककर कहे कि मैं बड़ा त्यागी हूँ, मैंने इनका घर जला दिया, तो वह त्यागी का लक्षण नहीं, अपराधी का लक्षण है। श्री भरत ने कहा, "मैं क्या बताऊँ, अगर मेरा भी कोई घर होता, तो मैं भी उसे फूँककर चल देता, लेकिन क्या करूँ—

संपति सब रघुपति कै आही।
जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई।
पाप सिरोमनि साइँ दोहाई॥ २/१८५/३-४

—अयोध्या की सारी सम्पत्ति भगवान् राम की है। मैं तो उनका सेवक हूँ। सेवक का कार्य स्वामी की सम्पत्ति की रक्षा करना है। यदि मैं इसकी रक्षा किये बिना ही चला जाऊँ, तो मेरी भलाई नहीं और इसके-जैसा कोई पाप भी नहीं।

जब श्री भरत दान देते हैं, तो उसकी भी कोई सीमा नहीं। गोस्वामीजी लिखते हैं—

सिंघासन भूषण बसन अन्न धरनि धन धाम।
दिए भरत लहि भूमिसुर भे परिपूरन काम॥ २/१७०

—उन्होंने सिंहासन, गहने, अन्न, वस्त्र धन और मकान इतने दान किये कि ब्राह्मण आदि दान पाकर पूर्णकाम हो गये। श्री भरत हैं तो महान् दानी, पर दान का तनिक भी अहंकार नहीं। और शिव के ऐसे परम भक्त हैं कि—

बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना।
सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना।।
मागहिं हृदयँ महेस मनाई।
कुसल मातु पितु परिजन भाई।। २/१५६/७-८

—प्रतिदिन विभिन्न प्रकार से शिवजी का अभिषेक करते हैं, ब्राह्मणों को भोजन कराकर दान देते हैं। शिवजी को हृदय में मनाकर उनसे माता-पिता, भाई-परिजन सभी का कुशल-क्षेम माँगते हैं। इस प्रकार श्री भरत वैश्य धर्म के अद्वितीय पालनकर्ता हैं।

फिर श्री भरत से बढ़कर शूद्रधर्म का पालन करने-वाला भी संसार में कोई नहीं हुआ। शूद्र धर्म का आदर्श है सेवा। भगवान् राम की पादुका को निरन्तर सामने रख श्री भरत ने जिस सेवा धर्म का पालन किया, वह संसार में विलक्षण है। प्रसंग आता है कि जब भगवान् अयोध्या छोड़कर वनवास के लिए निकलते हैं, तो अयोध्या के नागरिक भावविह्वल हो उनके साथ चल पड़ते हैं। भगवान् राम उन्हें लौटने के लिए बहुत समझाते हैं, पर वे लौटते नहीं। रात में जब सब सोये रहते हैं, तब प्रभु सुमन्त्रजी से कहते हैं—

खोज मारि रथु हाँकहु ताता ।
आन उपायँ बनहि नहिं बाता ।। २/८४/८

—और मन्त्री उन्हें सीताजी और लक्ष्मण सहित ले जाते हैं। प्रातःकाल पुरवासी जब जागते हैं, तो प्रभु को न पाकर व्याकुल हो इधर-उधर खोजते हैं। उन्हें रथ का पता नहीं चलता और निराश हो अयोध्या वापस लौट आते हैं। और इधर जब श्री भरत इतने दिनों बाद प्रभु से मिलने के लिए गये, तो गोस्वामीजी ने लिखा—

हरषहिं निरखि राम पद अंका । २/२३७/३

—भरतजी को प्रभु के चरण की छाप भूमि पर दिखायी पड़ती है। अयोध्या के नागरिकों को रथ के पहिये का निशान भी नहीं दिखा, जबकि इधर श्री भरत इतने दिनों बाद भी प्रभु के चरणों की रेखा देख पाते हैं। इसका अभिप्राय क्या है ? ये रेखाएँ मानों ईश्वर की बनायी हुई मर्यादाएँ हैं उन्होंने अपने चरित्र द्वारा इन मर्यादाओं को स्थापित किया है। जो व्यक्ति चलते समय निरन्तर यह ध्यान रखता है कि भगवान् राम के चरणों की कोई रेखा मेरे द्वारा न मिट जाय, उनके द्वारा बनायी गयी मर्यादा नष्ट न हो जाय, वही सच्चे अर्थों में संसार-पथ पर ठीक ठीक चल रहा है। श्री भरत निरन्तर सजग हैं। वे भगवान् राम की चरणरेखा को खोज लेते हैं। यही नहीं, उन्हें भगवान् राम की पादुका में प्रभु के दर्शन होते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं—

भरत मुदित अवलंब लहे तें ।

अस सुख जस सिय राम रहे तें ।। २/३१५/८

श्रीभरत को ऐसा लगा कि पादुका के रूप में श्रीसीताजी और भगवान् राम ही उनके साथ लौट रहे हैं। मानो प्रभु ने कहा--भरत, एक रूप में मैं वन में रहूँगा और दूसरे रूप में मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। पादुका के रूप में तुम्हारे साथ रहूँगा और इस रूप में वन में रहूँगा। यदि श्री भरत प्रभु से पूछ दें कि यह क्रम बदल दें तो कैसा रहे--पादुका के रूप में आप वन में रह जायँ और भरत की इच्छा पूर्ण करने अयोध्या लौट आएँ ? तो प्रभु कहेंगे--भरत, मैं वन में इसी रूप में रहूँ तो ही अच्छा है। देवता तथा अन्य लोग मुझे इस रूप में भी पहचान पाएँ, तो बड़ी अच्छी बात है। जड़ पादुका के रूप में तुम्हारे साथ लौटने में कोई डर नहीं है। चेतन में चेतन का दर्शन करनेवाले ही बहुत कम मिलते हैं, फिर जड़ में चेतन को, मुझको पहचान ले सकें, ऐसे लोग कहाँ मिलेंगे? यह क्षमता तो तुममें है--

होत न भूतल भाउ भरत को।

अचर सचर चर अचर करत को।। २/२३७/८

तुम्हीं पादुका के रूप में मुझे पहचानोगे। और श्री भरत ने पादुका को भगवान् का एक चिह्न मात्र नहीं माना, उनके लिए तो वह श्रीसीताजी और भगवान् राम का स्वरूप था। उसके प्रति उनकी सेवा-भावना भी कैसी थी !--

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।

मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ।।२/३२५

--श्री भरत प्रेम से परिप्लावित हैं। मस्तिष्क में दिव्य विवेक है और शरीर निरन्तर सेवाकार्य में लगा हुआ है। इस प्रकार श्री भरत के चरित्र में ब्राह्मण धर्म, क्षत्रिय धर्म, वैश्य धर्म और शूद्र धर्म सम्पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। यही नहीं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास समस्त आश्रमों के धर्म भी उनके चरित्र में परिपूर्णता प्राप्त करते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं--

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को ॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषण सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को ॥

२/३२५/छन्द

--यदि श्री भरत का जन्म न हुआ होता, तो पूर्ण प्रेम को लोग कैसे देख पाते? तपस्या का सच्चा आदर्श लोगों को कैसे ज्ञात होता तथा लोगों के जीवन की दरिद्रता और दुःख को कौन दूर करता? गोस्वामी जो कहते हैं कि उनके बिना मुझ जैसे दुष्ट व्यक्ति को भगवान् के सामने कौन ले जाता? उनकी यह मान्यता है कि यदि श्री भरत न हुए होते, तो भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण का दृष्टान्त और कौन प्रस्तुत करता, धर्म के सच्चे स्वरूप को कौन उद्घाटित करता तथा ऐसे भयानक कलिकाल में जीव को ईश्वराभिमुख कौन बनाता?

०

# वेदों का प्रयोजन

(गीताध्याय २, श्लोक ४६)

*स्वामी आत्मानन्द*

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

**यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।**
**तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥**

सर्वतः (सब ओर से) संप्लुत-उदके (जल का प्लावन होने पर) उपदाने (कुएँ, पोखरे आदि छोटे छोटे जलाशयों में) यावान् (जितना) अर्थः (प्रयोजन होता है) ब्राह्मणस्य विजानतः (ब्रह्म को जाननेवाले का) सर्वेषु वेदेषु (सारे वेदों में) तावान् (उतना) [एव अर्थः] [ही प्रयोजन होता है]।

"सब ओर धरती के जलमग्न होने पर कुएँ, पोखरे आदि छोटे छोटे जलाशयों का जितना प्रयोजन रह जाता है, उतना ही प्रयोजन ब्रह्म को जाननेवाले के लिए सारे वेदों का रह जाता है।"

पिछले श्लोक की चर्चा के अन्त में हमने एक प्रश्न उठाया था कि यदि वेद त्रैगुण्य विषयक हैं और जीवन की धन्यता निस्त्रैगुण्यता में है, तो वेदों का क्या कोई प्रयोजन नहीं है ? यदि है, तो कितना है ? प्रस्तुत श्लोक इस प्रश्न का उत्तर प्रदान करता है।

वैसे, इस श्लोक की व्याख्या कई प्रकार से की गयी है। ऐसा लगता है कि यह भी महाभारत का एक 'कूट' श्लोक है। किसी एक व्याख्या को सही मानना और शेष को गलत––ऐसी मनोवृत्ति को उचित नहीं माना जा सकता, क्योंकि सभी की व्याख्याएँ, परस्पर-विपरीत होने पर भी; कथ्य की पृष्ठभूमि में सही मालूम पड़ती हैं।

यहाँ पर हमारा प्रयास यही है कि इन विभिन्न व्याख्याओं को प्रस्तुत कर दिया जाय, जिससे व्यक्ति अपनी रुचि के अनुरूप उनमें से एक ग्रहण कर ले। पर इतना कह रखना हमें आवश्यक प्रतीत होता है कि इस श्लोक में भी वेदों की निन्दा नहीं की गयी है, न ही वेदों को उपेक्षणीय माना गया है। जो लोग पिछले और प्रस्तुत श्लोकों के बल पर यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि गीता में वेदों की उपेक्षा और निन्दा की गयी है, उनसे विनम्र निवेदन है कि वे गीता का वह श्लोक भी देखें, जहाँ भगवान् कृष्ण अपने को वेदों द्वारा जानने योग्य मानते हैं--'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्' (१५/१५)--'सब वेदों से जानने योग्य मैं ही हूँ, वेदान्त का कर्ता और वेद जाननेवाला भी मैं ही हूँ।' फिर, उपनिषदों में भी वेदों की प्रशंसा में अनेक मंत्र प्राप्त होते हैं। कठोपनिषद् कहता है--'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति' (२/१५)--'सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं और समस्त पदों को जिसकी प्राप्ति के साधक कहते हैं,' वह श्रेष्ठ पद है। और जब गीता उपनिषदों का ही सार है, तब भला वह वेदों की निन्दा कैसे कर सकती है? हाँ यह सम्भव है कि वेदों के शब्दज्ञान को गौणत्व दिया गया हो। जहाँ पर शब्दज्ञान और अनुभूतिज्ञान की तुलना हो, वहाँ पर अनुभूतिज्ञान का पलड़ा ही निस्सन्दिग्धरूपेण भारी होगा। अतः अनुभूति की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए यह सम्भव

है कि शब्द को गौण माना हो। वेदों में शब्द भी है और अनुभूति भी। वेदों में देहसर्वस्व सुख का भी विधान है और देहातीत सुख का भी। जब दोनों सुखों की तुलना की जायगी, तो निस्सन्देह देहातीत सुख को देहसर्वस्व सुख की अपेक्षा अधिक मान मिलेगा। देहसर्वस्व सुख की निन्दा का मतलब यह नहीं हुआ कि वेदों की निन्दा हो गयी। अध्ययनक्रम में व्यक्ति आठवीं पास करता है, फिर ग्यारहवीं, फिर बी. ए., फिर एम. ए.। यदि ग्यारहवीं या बी. ए. की तुलना में आठवीं को हेय माना गया, तो यह मतलब नहीं कि अध्ययन-क्रम की ही निन्दा हो गयी। एम. ए. की अपेक्षा आठवीं गौण है सही, पर यह एम. ए. और आठवीं दोनों अध्ययन-क्रम के ही अग हैं। व्यक्ति आठवीं में से गुजरकर ही एम. ए. में जाएगा।

इसी प्रकार, यदि अर्जुन को भगवान् कृष्ण यह उपदेश देते हों कि वेद त्रिगुणात्मक हैं, तुम निस्त्रैगुण्य बनो, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वेदों को फेंक दो। मतलब इतना ही है कि वेदों में त्रिगुणात्मक प्रपंच का भी वर्णन है और गुणातीत अवस्था का भी। गुणातीत बनने का सबक भी वेदों से ही सीखना होगा। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों श्लोकों का तात्पर्य वेदों की निन्दा करना नहीं है। पिछले प्रवचन में हम इस सम्बन्ध में और भी विस्तार से चर्चा कर चुके हैं।

प्रस्तुत श्लोक में वेदों का प्रयोजन स्वीकार किया गया है और यह भी बताया है कि प्रयोजन कितना

है। कहा गया है कि ब्रह्म को जाननेवाले पुरुष के लिए वेदों का प्रयोजन उतना ही है, जितना कि सब ओर जल ही जल हो जाने पर कुएँ, पोखर आदि छोटे छोटे जलाशयों का रहता है।

इसका एक अर्थ यह किया जाता है कि धरती जब चारों ओर से जलमग्न रहती है, तो जल लाने के लिए कुएँ, पोखर आदि जलाशयों तक जाने की आवश्यकता नहीं रह जाती, जहाँ देखो वहीं जल मिल जाता है। इसी प्रकार, जिस व्यक्ति का जीवन ब्रह्मज्ञान की पावन धारा से आप्लावित हो उठा है, उसे अब ज्ञान के लिए वेदों के पास जाने की आवश्यकता नहीं है। वेदों का प्रयोजन ज्ञान-प्राप्ति में है। जो ज्ञानालोक से उद्भासित हो उठा है, उसे फिर वेदों की आवश्यकता नहीं। इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार किया जाता है––"सर्वतः संप्लुतोदके (सति) उदपाने यावानर्थः (न स्वल्पमपि प्रयोजनं विद्यते) तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु (अर्थः)"। इस प्रकार इस व्याख्या में किसी भी बाहर के पद को अध्याहृत मानना नहीं पड़ता। इसका सरल अर्थ यह होता है कि "चारों ओर पानी ही पानी होने पर (पीने के लिए कहीं भी विना प्रयत्न के यथेष्ट पानी मिलने लगने पर) जिस प्रकार कुएँ आदि को कोई भी नहीं पूछता, उसी प्रकार ज्ञान-प्राप्त पुरुष के लिए यज्ञ-यागादि वैदिक कर्मों का कुछ भी उपयोग नहीं रहता।" वैदिक कर्म केवल स्वर्ग-प्राप्ति के लिए नहीं होते, निष्काम

भाव से उनका सम्पादन करने पर वे मोक्ष का पथ भी प्रशस्त करते हैं। और जब इस पुरुष ने ज्ञानलाभ कर ही लिया है, तो फिर वह वैदिक कर्मों के पास क्यों जाएगा ?

यदि यही अर्थ लिया जाय, तो भी यह वेदों की निन्दा नहीं। तीन पैर की गाड़ी का प्रयोजन यह है कि छोटा बच्चा उसका सहारा लेकर चलना सीखे। यदि कहा जाय कि जब लड़का बड़ा होकर दौड़ने लगे, तब उसे तीन पैर की गाड़ी के पास जाने की आवश्यकता नहीं, तो यह उस गाड़ी की निन्दा नहीं है। गाड़ी ने अपना कार्य पूरा कर लिया। उसने बच्चों को चलना सिखा दिया, यही नहीं, अब बच्चा दौड़ भी लेता है। इस दौड़नेवाले बच्चे के लिए भले ही तीन पैर की गाड़ी की उपयोगिता न हो, पर वह दूसरे बच्चों के काम तो आएगी ही। इसी प्रकार जिस व्यक्ति का जीवन वेदों का अनुशीलन करते हुए ज्ञान-ज्योति से उद्भासित हो उठा है, वह भले ही अब वेदों को अपने लिए प्रयोजनीय न माने, पर वेदों का उपयोग तो उन असंख्य लोगों के लिए बना ही हुआ है, जो 'विज्ञानी' होना चाहते हैं, जो ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बन अपने जीवन को कृतकृत्य करना चाहते हैं।

दूसरा अर्थ इस प्रकार किया जाता है। पिछले श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि देख, वेद तो त्रिगुणात्मक प्रपंच का ही प्रकाशन करते हैं, अतः तू निस्त्रैगुण्य हो जा। वह कैसे होऊँ ? जीवन के द्वन्द्वों से

ऊपर उठने की चेष्टा कर। वह चेष्टा किस प्रकार सम्भव है ? त्रिगुणात्मक संसार में रजोगुण और तमोगुण को दबा दे तथा नित्य सत्त्वगुण में स्थित होने का प्रयास कर। इस प्रयास में सफल कैसे होऊँ ? योग-क्षेम की चिन्ता पास फटकने न दे, ऐसी चिन्ता ही मन को रजोगुण में लगाती है और उसे विक्षिप्त करती है। योग-क्षेम की चिन्ता से मुक्त कैसे होऊँ ? आत्मवान् बनकर। जब तक मैं अपने को देहवान् समझता हूँ, तब तक योग-क्षेम की चिन्ता सताएगी। योग-क्षेम देह का ही धर्म है। इससे ऊपर उठने के लिए अपने आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिए। अब यहाँ पर प्रश्न हो सकता है—अच्छा, भगवान् ने वेदों से ऊपर उठने के लिए कहा, इससे क्या वेदों का त्याग नहीं हो जाएगा ? और वेदों का त्याग करना तो उनका उल्लंघन करना हुआ। वेदों का उल्लंघन तो पाप हुआ। तो क्या हम निस्त्रैगुण्य बनकर इस पाप के भागी नहीं बनेंगे ? इस आशंका को दूर करते हुए भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "देख, निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम और आत्मवान् होने से वेदों का उल्लंघन नहीं होता। जो ब्रह्म को जान लेता है, उसमें वेदों का उसी प्रकार अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे सब ओर जल ही जल हो जाने पर उसमें कुएँ, बावली, पोखर आदि जलाशयों का अन्तर्भाव हो जाता है।" आचार्य शंकर इस पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—"यथा लोके कूपतडागाद्यनेकस्मिन् उदपाने परिच्छि-

न्नोदके यावान् यावत्परिमाण: स्नानपानादि: अर्थ: फलं प्रयोजनं स सर्व: अर्थ: सर्वत:संप्लुतोदके तावान् एव सम्पद्यते तत्र अन्तर्भवति इत्यर्थ:। एवं तावान् तावत्परिमाण एव सम्पद्यते सर्वेषु वेदेषु वेदोक्तेषु कर्मसु य: अर्थो यत् कर्मफलम्। स: अर्थो ब्राह्मणस्य संन्यासिन: परमार्थतत्त्वं विजानतो य: अर्थो विज्ञानफलं सर्वत:संप्लुतोदकस्थानीयं तस्मिन् तावान् एव सम्पद्यते तत्र एव अन्तर्भवति इत्यर्थ:"—अर्थात्, "जैसे संसार में कुएँ, पोखर आदि अनेक छोटे छोटे जलाशयों में जो स्नान-पान आदि प्रयोजन सिद्ध होता है, वह सारा प्रयोजन सब ओर से भरे महान् जलाशय में उतने ही परिमाण अनायास सिद्ध हो जाता है, अर्थात् इस महान् जलाशय में उन छोटे छोटे जलाशयों का अन्तर्भाव है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वेदों से यानी वेदोक्त कर्मों से जो प्रयोजन सिद्ध होता है, वह सारा प्रयोजन परमार्थ तत्त्व को जाननेवाले ब्राह्मण के यानी संन्यासी के उस विज्ञान और आनन्दरूप फल के अन्तर्गत ही सिद्ध हो जाता है, जो सब ओर से परिपूर्ण महान् जलाशय के समान है। यानी उन वेदोक्त कर्मों का जो कुछ फल मिलता है, वह उतने ही परिमाण में इस ब्रह्मज्ञ के आनन्दरूप फल में अनायास प्राप्त हो जाता है। अर्थात्, उस कर्मफल का इस ब्रह्मज्ञ द्वारा प्राप्त आनन्दरूप फल में अन्तर्भाव होता है।"

इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि वैदिक कर्मों का लक्ष्य इहलोक और परलोक में सुख की प्राप्ति है। समस्त

क्रियाओं का अन्तिम फल सुख-प्राप्ति ही है। नारद को उपदेश देते हुए सनत्कुमार छान्दोग्य उपनिषद् में कहते हैं-- 'यदा वै सुखं लभते अथ करोति। न असुखं लब्ध्वा करोति। सुखमेव लब्ध्वा करोति'--'जब सुख मिलता है, तभी व्यक्ति क्रिया करता है। अ-सुख मिले, तो नहीं करता। सुख मिले तभी करता है।' यह तो जीवन का शाश्वत सिद्धान्त है। हम सुख-प्राप्ति के लिए लौकिक क्रियाओं में लगते हैं। हम अध्ययन में इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि पढ़-लिखकर धनोपार्जन कर सकेंगे और उससे अभाव की पूर्ति द्वारा सुख सम्पादित कर सकेंगे। वस्तुतः अभाव की पूर्ति से सुख होता है। हममें विद्या का अभाव है। जब उसे दूर करते हैं, तो सुख होता है। हममें धन का अभाव है। उसके दूर होने से हमें सुख मिलता है। हम स्वर्ग की कामना इसलिए करते हैं कि स्वर्ग में सुख के साथ दुःख की मिलावट नहीं है। स्वर्ग का स्वरूप यों दर्शाया गया है--

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

--'जो सुख दुःख से मिश्रित न हो और आगे होनेवाले दुःख से भी मिश्रित न होता हो, तथा इच्छा मात्र करने से ही जो प्राप्त हो जाय, उस सुख को ही स्वर्ग कहकर पुकारा जाता है।' और इस प्रकार का सुख का प्राप्त करने के लिए हम वेदों के पास जाते हैं। पर प्रश्न यह है कि क्या स्वर्ग भी हमें बिना मिलावट का सुख दे सकता है? इस धरती पर तो ऐसा कोई सुख ही नहीं है, जो दुःख के साथ न मिला

हुआ हो। स्वर्ग में भी हम पढ़ते हैं कि देवता असुरों से परेशान रहते थे। जब पुण्य समाप्त हो जाते हैं, तब देवता भी पदच्युत हो जाता है। अतः स्वर्ग का सुख भी पूरी तरह ऐसा नहीं, जिसमें दुःख की मिलावट न हो। हाँ, इहलोक के सुखों की अपेक्षा परलोक के सुख बिना मिलावट के और अक्षय समझे जा सकते हैं, पर उनका भी अन्त होता है यह तो सर्वमान्य है।

इस पृष्ठभूमि में विचार करने पर तृष्णा का नाश ही एकमात्र अक्षय सुख का हेतु प्रतीत होता है। हमें ययाति की कथा मालूम है, जो तृष्णा को 'प्राणान्तक रोग' कहता है और उसके त्याग को ही सुख मानता है——'तां तृष्णां त्यजतः सुखम्'। वास्तव में तृष्णा मनुष्य के मन को चंचल बना देती है और मन की चंचलता ही समस्त दुःखों की जड़ है। तृष्णा के नाश से मन शान्त भाव धारण करता है और मन की यह शान्त अवस्था ही सुख का कारण बनती है। कहा भी तो है——

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

——कामना की पूर्ति से जो लौकिक सुख प्राप्त होता है तथा यज्ञादि से जो देवलोक का स्वर्गिक सुख मिलता है, वह उस सुख का सोलहवाँ भाग भी नहीं, जो तृष्णा के क्षय से मिलता है।'

आखिर, लौकिक सुख है क्या? एक रोग का शमन ही तो? रोग लग जाए, तो दुःख होता है, और छूटे तो

सुख का अनुभव होता है। भर्तृहरि ऐसे सखानुभव को को भ्रान्ति की कोटि में डालते हैं; कहते हैं--

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादि बलितान् ।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढ़तरमालिंगति वधूं
प्रतिकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ।।

--जब मनुष्य को प्यास-रोग सताता है, तब मीठे और सुगन्धित जल के पान से वह इस रोग को दूर कर लेता है। आनन्द तो उसे रोग के दूर होने के कारण आया, पर वह मानता है कि मिष्ट-सुरभित जल पीने से मुझे बड़ा आनन्द आया। यदि बात ऐसी ही हो तो पेट जब भरा हो, तब भी वैसा जल पीने से आनन्द आना चाहिए, पर वह नहीं आता। इसी प्रकार क्षुधा भी एक रोग है। उसकी निवृत्ति शाकादि पदार्थों से मिश्रित चावल आदि का उपयोग करने से होती है। लोग कहते हैं कि भोजन में बड़ा आनन्द आया, पर वस्तुतः आनन्द तो भूखरूपी रोग के निवारण से प्राप्त हुआ। यदि किसी विशेष भोजन में आनन्द होता, तो ट भरा रहने पर भी उसके भक्षण से आनन्द मिलना चाहिए, जो नहीं मिलता। इसी प्रकार काम का प्रदीप्त होना ाी एक रोग है और उसका शमन पत्नी-सम्बन्ध के द्वारा होता है। असल में व्याधि के प्रतीकार के कारण हमें सुख मिलत है, पर मनुष्य भ्रान्ति से क्रियाओं में सुख मान लेता है यदि सुख क्रियाओं से मिलता होता, तो सभी अवस्थाओं उन क्रियाओं से सुख उत्पन्न होता, पर ऐसा नहीं हुअ

करता ।

तात्पर्य यह है कि सुख रोग के दूर होने से होता है। फ्लू या टायफाइड के प्रकोप में पड़कर जब चंगा होता हूँ, तो मुझे सुख होता है। तो क्या इसीलिए मैं यह प्रयत्न करूँ कि मुझे फिर से फ्लू या टायफाइड हो जाय और मैं उससे मुक्त होने की चेष्टा करूँ, जिससे मुझे सुख हो ? नहीं, मैं ऐसा नहीं करता। मैं यही चाहता हूँ कि मैं सदा स्वस्थ बना रहूँ। यह जो रोग होना और उससे मुक्त होने से सुख का अनुभव करना है, यह सुख सदैव नीरोग रहने के सुख में अन्तर्भुक्त हो जाता है। कोई यह नहीं चाहता कि मुझे बारम्बार रोग होते रहें और उन रोगों को दूर कर सुख का अनुभव करता रहूँ। इसी प्रकार कामना के सम्बन्ध में समझना चाहिए। हमारे मन में कामना पैदा होती है और उसकी तृप्ति कर हम सुख का अनुभव करते हैं। हमारा जीवन इन्हीं कामनाओं और उनकी पूर्ति की चेष्टा की ही तो एक लम्बी कहानी है। अब यदि कोई निष्काम हो जाय, तो इस निष्कामता के सुख की तुलना क्या कामना-तृप्ति से उत्पन्न सुख से की जा सकती है ? बल्कि यही कहा जा सकता है कि कामना की तृप्ति से उत्पन्न होनेवाला सुख निष्कामता के सुख के अन्तर्गत हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञ का जो अक्षय और सीमाहीन सुख है, वैदिक कर्मों के फल से प्राप्त होनेवाला सुख उसके अन्तर्गत हो जाता है। जैसे निष्कामता के सुख का अनुभव करनेवाला व्यक्ति कामना-तृप्ति

से प्राप्त होनेवाले सुख के पीछे नहीं जाता, वैसे ही जो ब्रह्म को जानकर आत्मा के असीम आनन्द में डूब गया है, उसे वैदिक कर्मों के पीछे जाने का प्रयोजन नहीं रह जाता।

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में यह बताया गया है कि श्रोत्रिय और कामना के स्पर्श से अछूता व्यक्ति कैसे सभी श्रेणियों का आनन्द अनायास प्राप्त कर लेता है। वहाँ (८/१-४) ब्रह्मानन्द की मीमांसा की गयी है। इस मीमांसा के लिए पहले एक इकाई स्थिर की गयी। 'मानुष-आनन्द' वह इकाई बना। यह 'मानुष-आनन्द' क्या है? 'युवा स्यात् साधु युवा अध्यायकः आशिष्ठो दृढ़िष्ठो बलिष्ठः तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।'—अर्थात् 'युवा हो, साधु स्वभाववाला नवयुवक हो, अच्छी तरह शिक्षित हो, अत्यन्त आशावान हो, मन से बड़ा दृढ़ हो और शरीर से बलिष्ठ हो तथा धन-धान्य से समृद्ध यह सारी पृथ्वी उसी की हो, तो उसे जो आनन्द प्राप्त होगा, वह एक मानुष-आनन्द है।' इसका सौगुना आनन्द एक 'मनुष्य-गन्धर्व का आनन्द' होता है। ऐसे सौ मनुष्य-गंधर्व के आनन्द से एक 'देव गंधर्व का आनन्द' होता है। ऐसे सौ देवगन्धर्व के आनन्द से 'नित्यलोक में रहनेवाले पितृगण' का एक आनन्द होता है। ऐसे सौ आनन्द से एक 'आजानज देवताओं का आनन्द' होता है। ऐसे सौ आनन्द से एक 'कर्मदेव देवताओं का आनन्द' होता है। ऐसे सौ आनन्द से एक 'देवताओं का आनन्द' होता

है। ऐसे सौ आनन्द से एक 'इन्द्र का आनन्द' होता है। ऐसे सौ इन्द्र के आनन्द से एक 'बृहस्पति का आनन्द' होता है। ऐसे सौ वृहस्पति के आनन्द से एक 'प्रजापति का आनन्द' होता है और प्रजापति के ऐसे सौ आनन्द से एक 'ब्रह्मा का आनन्द' होता है। इस प्रकार आनन्द की ग्यारह श्रेणियाँ बताकर यह कहा गया है कि श्रोत्रिय और अकामहत ब्रह्मज्ञानी को ये सारे प्रकार के आनन्द प्राप्त हैं, यानी ब्रह्मवेत्ता के आनन्द में कर्मकाण्ड से देवलोकादि प्राप्त करनेवालों के सारे आनन्द अन्तर्गत हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक का यह दूसरा अर्थ इस आशंका का निराकरण करता है कि वेदों के उल्लंघन की बात श्रीभगवान् द्वारा अभीष्ट है। यहाँ तो इतना ही कहा गया है कि ब्रह्मज्ञानी को वह सब प्राप्त हो जाता है, जिसको प्रदान करने की प्रतिज्ञा वेद करते हैं। यह ब्रह्मज्ञान की स्तुति है, वेदों की निन्दा नहीं।

यदि हम मुक्ति के तत्त्व पर विचार करें, तो इसका और भी खुलासा हो जाता है। मुक्ति के दो प्रकार शास्त्रों ने बताये हैं--(१) विदेह-मुक्ति, (२) क्रम-मुक्ति। जिस पुरुष को इस जीवन में ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'--उसके प्राण उत्क्रान्त होकर और कहीं नहीं जाते। वे यहीं सबमें लीन हो जाते हैं। अर्थात् शरीर छोड़ते ही उसे सर्वात्म-भाव प्राप्त हो जाता है और वह सबमें आत्मरूप से

प्रविष्ट हो जाता है। इसे 'विदेह-मुक्ति' कहते हैं। पर जिस पुरुष को इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान सिद्ध नहीं हुआ, वह यहाँ से सूर्यमण्डल को भेदकर और भी ऊपर के लोकों में जाता है। इन लोकों में बहुत काल तक विचरण करता हुआ वह ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मा की आयु पर्यन्त वहाँ रहता है और वहीं पूर्णज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मा के साथ मुक्त हो जाता है। यह 'क्रम-मुक्ति' कहलाती है। 'क्रम-मुक्ति' प्राप्त करनेवाले के सम्बन्ध में उपनिषदों में कहा गया है कि 'सर्वेषु लोकेषु अस्य कामचारो भवति'—ऐसे सिद्धि प्राप्त पुरुष को सब लोकों में इच्छानुसार विचरण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यदि उसके चित्त में पितृलोक की इच्छा हो, तो संकल्प मात्र से वह पितृलोक हो आएगा। यदि देवलोक जाकर वहाँ के दिव्य सुख भोगना चाहे, तो वह सब इच्छा मात्र से उपलब्ध हो जाता है। अब जो वैदिक यज्ञ करनेवाला है, वह तो यज्ञ के प्रभाव से एक ही लोक प्राप्त करेगा, पर ऐसे क्रम-मुक्ति के अधिकारी व्यक्ति को तो ये सारे लोक अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए प्रस्तुत श्लोक में जो दृष्टान्त दिया गया है, वह यहाँ पर पूरी तरह घट जाता है—कुआँ, पोखर आदि के जल में जितना प्रयोजन सिद्ध होता है, यदि चारों ओर भरा हुआ जल मिल जाय, तो उतना प्रयोजन तो सिद्ध होता ही है, बल्कि उससे भी बहुत अधिक प्रयोजन सिद्ध होता है। इसी प्रकार एक एक यज्ञ करनेवाले को मानो एक एक

कुआँ या पोखर मिला, पर जो कर्मयोग में सिद्ध होकर ब्रह्मवेत्ता बन गया उसे तो मानो चारों ओर भरा हुआ जल मिल गया।

इस श्लोक का तीसरा अर्थ यह किया जाता है--"सब ओर जल ही जल हो जाने पर भी कुएँ आदि का जितना प्रयोजन होता है, उतना ही प्रयोजन ब्रह्मवेत्ता को सारे वेदों का होता है।" अर्थात्, जब सब ओर पानी ही पानी भर जाता है, तब भी हमें कुएँ-बावली आदि की जरूरत होती है, क्योंकि हम सभी जगह का जल नहीं पी सकते। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी को भी वेदों की आवश्यकता बनी रहती है। उसके जीवन में ज्ञान का प्लावन आने पर भी जब संसार में वह व्यवहार करता है, तो वेदों की शिक्षा के अनुरूप ही वैसा करता है, उसका आचरण वेद-विरुद्ध नहीं होता।

चौथे अर्थ में 'सर्वतः संप्लुतोदके' को 'उदपाने' का विशेषण मानकर और 'यावानर्थः' का तात्पर्य 'जितना प्रयोजन हो उतना' लेकर यह अन्वय किया जाता है--'सर्वतः-संप्लुतोदके उदपाने यावान् अर्थः, ब्राह्मणस्य विजानतः तावान् (अर्थः) सर्वेषु वेदेषु'। प्रथम अर्थ में 'सर्वतः संप्लुतोदके' इस सामासिक पद को 'सति सप्तमी' में लिया गया है, जबकि यहाँ उसे 'उदपाने' का विशेषण माना है। इस चौथे अन्वय का अर्थ यह हुआ---जैसे उदपान यानी कुआँ-बावली-पोखर आदि जलाशय चारों ओर जल ही जल से भरे होते हैं, पर उनमें से मनुष्य

जितना प्रयोजन होता है उतना जल ले लेता है। एक व्यक्ति जलाशय के सारे जल का उपयोग नहीं कर सकता, किन्तु इसीलिए सम्पूर्ण जल की व्यर्थता भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि इस एक मनुष्य की तरह और भी सैकड़ों मनुष्य उन जलाशयों से अपना उपयोग सिद्ध करते हैं। इस प्रकार सबके उपयोग में आने के कारण उन जलाशयों की प्रतिष्ठा बनी रहती है। वैसे ही ब्रह्मवेत्ता के लिए वेद एक विस्तृत जलाशय है। वेदों मे योग्यतानुसार सबके काम की चीजें हैं। उन सबका उपयोग एक ही आदमी नहीं कर सकता। जिसे अपना जितना प्रयोजन सिद्ध करना हो, वह उतना अंश वेदों से ले ले और अपनें को कृतकृत्य बना ले। विज्ञानी ब्राह्मण अपने ज्ञान के अंश को ही उसमें से ग्रहण कर ले। उसे कर्मकाण्ड के पचड़े में पड़नें की आवश्यकता नहीं। कर्मकाण्ड को मुख्य माननेवाले मीमांसक क्या यह दावा कर सकते हैं कि वेदोक्त सारे यज्ञ एक ही व्यक्ति कर सकता है? अधिकार और योग्यता के अनुसार यज्ञों की व्यवस्था हुई है। सबसे पहले 'इष्टि' करने का अधिकार दिया जाता है। वह सम्पन्न करने पर 'सोमयाग' का अधिकार प्राप्त होता है। फिर सोम में भी अनेक संस्थाएँ हैं। अपनी शक्ति और अधिकार के अनुसार व्यक्ति किसी संस्था विशेष से संयुक्त से होता है। वेदों में बताये गये सारे कर्म एक ही व्यक्ति नहीं कर पाता। उसे जितना प्रयोजन हो, उतना वेदों से ग्रहण कर ले। जो ज्ञानमार्गी है, उसके

लिए तदनुरूप उपदेश देते हुए वेद कहते हैं--'तमेवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुंचथ अमृतस्यैष सेतुः'-- 'उसी एक आत्मा को जानो, शेष सब छोड़ दो, यही अमरत्व का सेतु है।' इसी प्रकार यम और नचिकेता के वैदिक उपाख्यान में भी श्रेय और प्रेय की चर्चा कर श्रेय के ग्रहण का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार चौथी व्याख्या का तात्पर्य यह है कि वेद में सबके लिए उपयोगी बातें हैं--कर्मकाण्डी से लेकर ब्रह्मज्ञानी तक के लिए। जो जिसका अधिकारी है, वह वेद रूपी ज्ञानसमुद्र से ले ले।

इस तरह चारों ही व्याख्याओं में हमने देखा कि प्रस्तुत श्लोक का वेद की निन्दा से तात्पर्य नहीं है। गीता वेद-विरोधी नहीं है, प्रत्युत वह वेदों पर भगवान् द्वारा की गयी टीका है। जो ईश्वर वेदों को निःश्वसित करते हैं, वे स्वयं उनका विरोध कैसे करेंगे।

प्रस्तुत श्लोक में दो शब्द आये हैं--'विजानतः ब्राह्मणस्य'। यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द वर्णसूचक नहीं है, उसका अर्थ है 'ब्रह्म को जाननेवाला'। 'विजानतः' का अर्थ है 'विशेष रूप से जाननेवाला'। अतः 'विजानतः ब्राह्मणस्य' का अर्थ हुआ 'विज्ञानी ब्राह्मण का' यानी 'विशेष रूप से ब्रह्म को जाननेवाले का'। श्रीरामकृष्ण कहते थे--किसी ने दूध के सम्बन्ध में पढ़ा है या सुना है, किसी ने दूध देखा है और किसी ने दूध चखा है। जिसने केवल पढ़ा या सुना है, वह अज्ञान के ही दायरे

में आता है। जिसने देखा है, वह ज्ञानी है और जिसने चखा है, वह विज्ञानी। एक बार ज्ञानी भूल कर सकता है, विज्ञानी नहीं। तो ऐसा जो विज्ञानी ब्रह्मज्ञ है, वह वेदों में बताये समस्त फल को प्राप्त कर लेता है।

अर्जुन ने जब इस प्रकार विज्ञानी ब्रह्मज्ञ का चित्रण सुना, तो स्वाभाविक ही उसे इच्छा हुई कि मैं भी ब्रह्मवेत्ता बनूँ, निर्द्वन्द्व और आत्मवान् बनूँ। वह मन में सोचता है कि ऐसा ही बनने के लिए तो मैं युद्ध छोड़कर भिक्षा का जीवन अंगीकार करना चाहता हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण उसके मनोभाव को भाँप लेते हैं और कहते हैं कि अर्जुन, युद्ध छोड़कर भिक्षा का जीवन अंगीकार करना तुझे ब्रह्मज्ञ नहीं बनाएगा। ब्रह्मज्ञ बनने के लिए तुझे पात्रता अर्जित करनी होगी, और वह पात्रता तुझे कर्म छोड़ने से नहीं वरन् कर्म करने से मिलेगी। मैं तुझे बताता हूँ कि वह पात्रता अर्जित करने के लिए तुझे अपना कर्म किस प्रकार करना चाहिए।

अगले श्लोकों में भगवान् कृष्ण इस कर्म-सिद्धान्त का उद्घाटन करते हैं, जिस पर चर्चा हम बाद में करेंगे।

०

**प्रश्न**—'कृच्छ्रसाधन' किसे कहते हैं और आध्यात्मिक जीवन में इसका महत्त्व अथवा उपयोगिता क्या है ? श्रीमाँ सारदादेवी ने एक बार जो 'पंचाग्नि तप' किया था, वह क्या उक्त साधन के अन्तर्गत आ सकता है ?

**—वेदनारायण गुप्ता, जयपुर**

**उत्तर**—वह साधन जिसमें शरीर को बलपूर्वक कष्ट दिया जाता है, 'कृच्छ्र' कहलाता है; जैसे—एक पैर पर खड़े रहना, एक हाथ उठाये रहना, सिर के बल खड़े रहना, इत्यादि। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के व्रतोपवास भी आते हैं, जो शरीर को कष्ट देने की ही दृष्टि से किये जाते हैं। श्रीमाँ का वह 'पंचाग्नि तप' भी इसी का एक रूप था, जब वे तपते ग्रीष्म-कालीन सूरज के नीचे चारों दिशाओं में अग्नि प्रज्वलित कर बीच में सूर्योदय से सूर्यास्त तक जप-तप करते बैठे रहतीं, और ऐसा उन्होंने सात दिन तक किया था। इसे 'पंचतपा' के नाम से पुकारा गया है—चार दिशाओं में जलते हुए उपलों के ढेर और ऊपर तपता हुआ सूरज। इस प्रकार के कृच्छ्रसाधनों का अनुष्ठान 'दम' का एक प्रकार है। शरीर और बाह्य इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए इनका अनुष्ठान किया जाता है। मन पर नियंत्रण प्राप्त करने

की साधना को 'शम' कहते हैं। शरीर और इन्द्रियाँ बलपूर्वक मन का हरण कर लिया करती हैं, ऐसी दशा में बिना 'दम' के 'शम' का अभ्यास कारगर नहीं हो पाता। पर यह कृच्छ्रसाधन 'दम' की आत्यन्तिक साधना है। इससे क्रमशः शरीर और बाह्य इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त होता है। हठयोगी की साधना में ऐसे कृच्छ्रसाधन की बहुलता होती है। इसमें सिद्ध होने पर कुछ सिद्धियों के प्राप्त होने का उल्लेख भी ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

पर इसका आध्यात्मिक महत्त्व क्या है और कितना है, इतका निर्णय कठिन है। जहाँ तक यह मन को नियंत्रण में लाने में सहायक होता है, वहाँ तक आध्यात्मिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता है, पर इससे प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ बहुधा मन के विक्षेप का कारण होती हैं। व्यक्ति के प्रदर्शनशील होने की अधिक सम्भावना रहती है तथा व्यक्ति का ध्यान ईश्वर के बदले शरीर पर अधिक केन्द्रित होने लगता है। अतः 'शम' के सहायक साधन के रूप में ग्रहण तक इसकी आध्यात्मिक उपादेयता है।

श्रीमाँ सारदादेवी ने ऐसे साधनों को अधिक महत्व नहीं दिया, ऐसा लगता है। जब उनसे किसी भक्त ने पूछा, "ऐसे कृच्छ्रसाधन की क्या आवश्यकता है ?" तो उन्होंने उत्तर में कहा, "तप जरूरी है... पार्वती ने भी शिव के लिए ऐसा किया।... ये लोगों के हित के लिए किये जाते हैं। नहीं तो लोग कहेंगे, 'वह तो साधारण व्यक्ति की तरह खाती-पीती और रहती है।' पंचतपा और इसी प्रकार के अन्य तप नारियों के लिए हैं, जैसे व्रतोपवास होते हैं वैसे ही। ठाकुर ने सब प्रकार की साधनाएँ कीं। वे कहते थे, 'मैंने साँचा बना दिया है, अब तुम लोग अपनी अपनी ढलाई कर लो'।" किसी अन्तरंग भक्त ने उनसे पूछा, "पर माँ, आपको इतना तप करने का क्या प्रयोजन ?" माँ ने उत्तर दिया, "यह तो तुम सबके लिए करती हूँ, बेटे ! लड़के

इतना सब कैसे करें ? इसलिए मैं ही उनके लिए कर लेती हूँ।"

अतएव, निष्कर्ष यह है कि 'कृच्छ्रसाधन' देह-केन्द्रित साधना है और इसका आध्यात्मिक महत्त्व इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितनी मात्रा में मन के विक्षेपों को दूर करने में सहायक होता है।

०

# आश्रम समाचार

## विवेकानन्द जयन्ती समारोह

विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी का ११६वाँ जयन्ती महोत्सव २८ जनवरी १९७८ से लेकर १९ फरवरी तक आनन्द और उल्लास के साथ आश्रम में सम्पन्न हुआ। २८ जनवरी से ४ फरवरी तक पूर्व माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक शालाओं तथा महाविद्यालयों के छात्रों की भाषण, वाद-विवाद आदि की ९ प्रकार की प्रतियोगिताएँ आयोजित की गई थीं। मंगलवार ३१ जनवरी को विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी का ११६-वाँ जन्मदिवस था। उस दिन मन्दिर में विशेष पूजा, हवन तथा भजन के कार्यक्रम आयोजित हुए। जयन्ती समारोह का उद्घाटन रविवार, ५ फरवरी १९७८ को मध्यप्रदेश के राज्यपाल, महामहिम श्री निरंजन नाथ वाँचू महोदय ने श्रीरामकृष्णदेव और स्वामी विवेकानन्दजी के तैल-चित्रों के अनावरण के द्वारा किया। समारोह का शुभारम्भ वैदिक पाठ और माँगलिक गान से हुआ। मिशन के सचिव स्वामी आत्मानन्द ने अपने वार्षिक प्रतिवेदन में आश्रम द्वारा किये गये जनसेवी कार्यों का उल्लेख किया।

अपने उद्घाटन भाषण में श्री वाँचू ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द का कर्म, निर्भयता और मानव सेवा का सन्देश आज

भी उतना ही प्रासंगिक है जितना कि वह उस समय था। जब तक हम स्वामीजी की उक्त तीनों बातों को अपने जीवन में नहीं अपनाते तब तक हम दुखों से छुटकारा नहीं पा सकते। आज हम महापुरुषों के उपदेशों के प्रति मौखिक श्रद्धा तो व्यक्त करते हैं लेकिन उन्हें अपने जीवन में नहीं उतारते। आज हमारे बीच अशान्ति और अस्थिरता का जो वातावरण है, वह इसी ? परिणाम है। जब जब हमारे देश में धर्म की हानि हुई है, ने बुराई फैली है तब तब उद्धार के लिए अवतार हुए हैं। श्रीराम कृष्ण परमहंस देव का आज उतना ही महत्व है जितना भगवा बुद्ध और महावीर का। श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द ने केवल उपदेश दिया बल्कि स्वयं करके दिखलाया। अतः स्वा विवेकानन्द को सच्ची श्रद्धांजलि यही होगी कि हम उनके उपदेश के अनुसार अपने को ढालें।

इस अवसर पर राज्यपाल महोदय ने आश्रम के एलोपैथिक औषधालय में लगभग ४० हजार रुपये की लागत से स्थापित फिजियो-कम-इलेक्ट्रोथेरेपी विभाग का उद्घाटन किया तथ श्रीमती वाँचू ने आश्रम द्वारा इस अंचल के विभिन्न भागों मे निर्मित ३७ कुओं का प्रतीकात्मक उद्घाटन बिजली का बटन दबाकर किया।

६ फरवरी से १४ फरवरी तक भारत के सुप्रसिद्ध रामाय पंडित रामकिंकर जी महाराज का 'सप्तप्रश्नों के अन्तर्गत स असंत भेद' पर हृदयग्राही रामायण प्रवचन हुआ। १५ फरवर को स्वामी आत्मानन्दजी ने विभीषणचरित पर प्रवचन दिया १६ से २० फरवरी तक भागलपुर निवासिनी श्रीमती कृष्णा देवी मिश्र के सुमधुर सरस रामायण प्रवचन हुए तथा १४ वर्षीय बाल-योगी श्री विष्णु अरोरा ने १९ और २० फरवरी को 'आध्या-त्मिक जीवन' पर प्रेरणापूर्ण तर्कसम्मत प्रवचन दिये।

०